6/-



ज्ञान वाहिनी



ज्ञान वाहिनी



भगवान
श्री सत्य साई बाबा के मूल तेलुगु
ग्रन्थ का अनुवाद



अनुवादक

ना० मु० रा० गणात्ते
एम० ए० साहित्यरत्न

उटकमण्ड (नीलगिरि)

ज्ञान वाहिनी

पहला संबोधन

आत्मज्ञान तथा उसके बाधक

"सूर्य रश्मिभिः तुहिनपटलमिव ज्ञानभाभिः अज्ञानं नश्यति ।।"

अर्थात् जैसे सूर्य की किरणों से तुहिन पटल विनष्ट होता है, वैसे ही ज्ञान-किरणों से अज्ञान का विनाश होता है ।

आध्यात्मिक विचार से ही ज्ञानोदय सम्भव होता है । अतः सदैव मन में ये प्रश्न उठाते रहना चाहिए कि ब्रह्म क्या है ? मैं कौन हूँ ? जन्म मरण क्या है ? इत्यादि । जैसे बालियों के बीजों पर चिपके चोकर को हटाकर शुद्ध धान्य प्राप्त किये जाते हैं, वैसे ही मन से सटे हुए अज्ञान के आवरण को आत्म विचार के द्वारा हटाकर मन को पवित्र रखने का प्रयत्न करना चाहिए जब पूर्ण ज्ञानोदय होगा तभी मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है । उपरोक्त कथन के अनुसार आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेने पर ही कोई साधक ब्रह्मनिष्ट कहलाने के योग्य माना जाता है । मन में उठने वाले सन्देहों के निवारणार्थ अपने परिचत महात्माओं से अथवा अपने सद्गुरु से प्रार्थना कर उनकी सहायता से सन्देह दूर कर लेना चाहिए । शास्त्रोक्त आध्यात्मिक मार्ग पर पूर्णतयः स्थिर होने तक उनके सान्निध्य में साधना रत होना आवश्यक है । क्योंकि आत्मज्ञान प्राप्त सत्पुरुषों के सान्निध्य में आत्मोन्नति की प्रगति शीघ्र होती है; अतः स्वच्छ वैराग्य एवं सच्ची उत्सुकतापूर्वक पूरे मन से गुरु की आज्ञाओं को अपने आचरण में लाना चाहिए

तथा शास्त्र-प्रणाली पर विश्वास कर कठोर तपस्या करनी चाहिए । इस प्रकार कुछ समय तक करते रहने पर ही अत्युन्नत पद प्राप्त होगा ।

अज्ञान का नाश हो जाने पर साधक को प्रत्येक आत्मा में अपना ही स्वरूप भासित होगा । हमें दिखायी देने वाले ये सब मृगतृष्णा ही हैं, क्योंकि वस्तुओं का आदि और अन्त होता है । जब विश्वप्रलय होता है, तब इस लोक में केवल मूलप्रकृति अथवा अव्यक्त का कारण बचा रहता है । जब स्वर्ण गलाया जाता है तब उसमें एक अद्भुत पीत आभा दीप्त हो उठती है । यह स्वर्णिम प्रकाश पहले कहाँ था ? क्या वह स्वर्ण में ही विद्यमान था ? अथवा अग्नि में उत्पन्न हुआ है ? नहीं, यहीं स्वर्णिम प्रकाश स्वर्ण का अपना प्रकाश है । अग्नि में तपने से उसकी मलीनता मात्र नष्ट होती है ; स्वर्ण अपने ही प्रकाश में प्रकाशमान होता है । अग्नि स्वर्ण की मलीनता को नष्ट करने का एक उपकरण अर्थात् साधन मात्र ही है । स्वर्ण अपने स्वाभाविक तेजस से ही प्रकाशमान होता है ; किन्तु उसके साथ कुछ भी मिलाया नहीं जाता ।

जैसे स्वर्ण को अग्नि में जलाते ही उसमें स्वर्णिम कान्ति आने लगती है, वैसे ही यदि लकड़ी, पत्ती या कंकड़ जो अग्नि में जलाए जायँ, तो स्वर्णिम आभा निकलनी चाहिए न ? परन्तु नहीं निकलती । अतः मूलतः यह कांति अग्नि में उत्पन्न नहीं होती, यह केवल स्वर्ण का अपना गुण है । इसी प्रकार अन्तरात्मा पंचकोशों से भिन्न है, जो अपने ही प्रकाश में शोभायमान है । वह त्रिगुणों की साक्षी है; स्वयंभू है आनन्द स्वरूप है, आनन्द है, ज्ञान है । इस प्रकार प्रत्येक आत्मा को अपने आप पहचानना चाहिए, जिसे आत्मसाक्षात्कार कहा जाता है । इस आत्मसाक्षात्कार में अर्थात ज्ञानस्वरूपमय परमात्मा के जानने में चार बाधाएँ होती हैं, वे लय, विक्षेप, क्षय तथा रसास्वाद हैं ।

लय का तात्पर्य है निद्रा। बाह्य विषयों से अन्दर की ओर मुड़े मन संसार के प्रभाव के कारण गाढ़निद्रा (सुषुप्ति) में प्रवेश करता है। साधक को चाहिए कि वह अपने मन को निद्रा के वशीभूत न कर सदैव आत्मविचार में लगावे। अतः अत्यन्त सतर्कतापूर्वक अपने मन को नियन्त्रित रखना आवश्यक है। निद्रा का कारण पहचान कर बार बार उसे दूर करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। बार बार ध्यान आरम्भ कर उसकी प्रगति करते रहना चाहिए। सामान्यतः ध्यान के समय निद्रा बाधक बनती है। स्वभावतः ये बाधाएँ अजीर्णता, अल्पाहार (कम भोजन करना), शारीरिक परिश्रम, अधिक चलने अथवा रात के समय खूब नींद न आने के कारण होती है अतः जब कभी रात के समय खूब नींद न आवे, तो दूसरे दिन दोपहर के समय थोड़ी देर के लिए सो लेना अच्छा है। परन्तु जो साधक दोपहर के समय ध्यान का अभ्यास करता है, उसे दोपहर के समय नहीं सोना चाहिए; यदि सोने की आदत हो जाय तो ध्यान के अभ्यास में सफलता न मिलेगी। साधक खूब भूख न लगने तक भोजन न करें, जिससे अजीर्ण की बाधा न होगी। उसके लिए अधिक करना भी ठीक नहीं है। अतः अल्प आहार का अभ्यास कर लेना आवश्यक है। सामान्यतः तीन चौथाई पेट भर जाने का अनुमान होते ही, भोजन करना बन्द कर दे, यदि और थोड़ा लेने की इच्छा ही क्यों न हो, तो भी बन्द कर देना ही पड़ेगा। इस प्रकार पेट को अभ्यस्त वना लेना अनिवार्य है। अत्यधिक व्यायाम या परिश्रम करना भी उत्तम नहीं है, अतः अधिक चलना फिरना या घूमना भी हानिकारक है। प्रातःकाल ध्यान से पूर्व निद्रालस्य दूर होने तक थोड़ा टहल सकते हैं, नींद खुलते ही ध्यान में बैठना भी अच्छा नहीं है।

विक्षेप का तात्पर्य है मन की अस्थिरता व चंचलता।

जागृत का संस्कार अच्छे कर्मों से बनता है, अतः उस मन की जो वाह्येन्द्रिय विषयों की ओर लालायित भागता है, उसे रोक, नियन्त्रित रखना चाहिए। उसे अभ्यास में लाने के लिए अधिक परिश्रम करना ही पड़ेगा। इस में आलस्य अल्प भी न होना चाहिए। अतः विचार शक्ति के द्वारा मन को बाह्य विषयों से बार-बार हटा कर भीतर की ओर ले जाना चाहिए। यह संसार अनित्य और असत्य है। अतः मिथ्यालिप्त है; अस्थाई तथा सदैव रहने वाला नहीं है। मनुष्य में जो सुख और दुख होते हैं वे केवल बाह्येन्द्रियों के कारण होने वाली दोषदृष्टि ही है। अतः अभ्यास के द्वारा मन के विक्षेप या चंचलता को रोकना तथा गहरे ध्यान में लीन होने का प्रयत्न करना चाहिए।

तोता अपना पीछा करने वाले बाज से बचने के निमित्त किसी मकान के भीतर घुस जाता है, परन्तु पुनः बाहर उड़ जाने के लिए ही वह आकुल हो उठता है न? ठीक इसी प्रकार मन अपनी आत्मा से, जहाँ वह शरण पाता है, उड़ कर बाहरी प्रपंच में चक्कर काटने को आकुल हो उठता है। ये विषय याने बाहरी प्रपंच की ओर भागना मन की प्रवृति है, अतः लय तथा विक्षेप रहित मन गहरे ध्यान में मग्न होने में सहायक होता है।

अन्तरंग रागद्वेष वासनाओं के द्वारा बाह्यविषयों में बलात्कार-पूर्वक आकृष्ट होता है तथा अगाध दुःख में सन्तप्त हो जाता है, जिस से एकाग्रता नष्ट हो जाती है। इस अवस्था में समाधि नहीं हो पाती यही क्षय है, यही मनोराज्य है यानी मन का हवाई किला बनाना। यह बाह्य जगत की ओर लालायित होने का परिणाम है; मन की लोक-वंचना है। यही बाह्य अनुराग है याने बाह्य प्रपंच की ओर समाकृष्ट होना। अपने में अपनी पूर्व स्थिति के आधार पर विचार

कर उत्तर स्थिति की प्रगति के निमित्त योजनाएँ तैयार करना अन्तरंग अनुराग है। इसे काँक्षा भी कहते हैं। बाह्य आकर्षण शक्ति ही विशेष है। अतः अनुराग वह है, जो पूर्व संस्कारवश मन के भीतर ही भीतर काँक्षा के रूप में उद्भवित होता है। यह काँक्षा ही समाधि का बल है।

विक्षेप का नाश हो जाने से सविकल्पानन्द सम्भवित होता है। इसे ही रसास्वादन कहा जाता है। यह निर्विकल्प समाधि अथधा ब्रह्मानन्द की अवस्था को प्राप्त करने में बाधक है।

जैसे कोई बोझ ढोने वाला यदि अपने बोझ को नहीं उतार दे तो जैसा आनन्द पायेगा अथवा किसी धनराशि को हड़पने के निमित्ति कोई लालची आदि उस धनराशि पर कुण्डली लगाकर बैठे सर्प को मार दे, तो उसे जो आनन्द मिलेगा, वही आनन्द साधक रसास्वादन से प्राप्त करता है। तो क्या, सर्प को केवल मार डालने से उस लालची का मन तृप्त हो जाएगा ? नहीं, उस धनराशि को प्राप्त करने तक वह वास्तविक आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता। अतः निर्विकल्प समाधि का आस्वादन करने पर मनुष्य पूर्ण तृप्त हो जाता है, और किसी आनन्द का अनुभव करने की चाह उस में नहीं रह सकती है ? सर्प को मारना ही विक्षेप को मिटाना है।

जैसे सूर्योदय से अन्धकार तथा उस से उत्पन्न समस्त कष्ट भी नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जो आत्मा का साक्षात्कार लेता है उसे न तो कोई बाधा होती है, न कोई सुख ही। निज की स्थिति का ज्ञान जिनमें नहीं है, केवल उनमें ही भ्रम याने माया उत्पन्न होती है। इस भ्रम से ही मनुष्य में अहंकार पैदा होता है। यदि लक्ष्य

से मन अल्प भी गिर जाय, तो उसका अधोपतन वैसे ही होगा; जैसे ऊँचे स्थान पर से कोई व्यक्ति फिसल जाय, तो बीच की सीढ़ियों पर लुढ़क अधपाताल में जा गिरेगा। अविवेक से भेदभाव, अहंकार तथा अभिमान उत्पन्न होते हैं अहंकार से प्रेम तथा अहम्ता होते हैं। राग-द्वेषों से कर्म और व्यवहार अंकुरित होते हैं। कर्म के फलस्वरूप स्थूल देह का निर्माण होता है, जिस से अभिमान होता है शरीराकार से सुख-दु:ख होते हैं। अत : सुख-दु:ख से जो विमुक्त होना चाहता है, उसके लिए इस शारीरिक भौतिक चेतना से मुक्त होना आवश्यक है। अत : शारीरिक भौतिक चेतना से मुक्त होने, स्वार्थ का पूर्ण त्याग अनिवार्य है। जो यह सोचता ही रहता है कि स्वार्थ का त्याग कैसे करूं, वह राग-द्वेष को तजने में असमर्थ होता है; अर्थात स्वार्थ के त्याग के बिना राग-द्वेष का निराकरण असम्भव है। काम याने इच्छा ही मोक्ष का परम शत्रु है। यह इच्छा ही मनुष्य को आवागमन के चक्र में आबद्ध कर देती है। मनुष्य की समस्त विघ्न-बाधाओं का यही मूल कारण है। इस प्रकार के आत्मिक अन्वेषण से अर्थात आत्मविचार से ज्ञान स्वच्छ व निर्मल हो जाता है, जिस से मोक्ष सुलभ हो जायेगा। मोक्ष का तात्पर्य है स्वतंत्रता अर्थात समस्त बिघ्नबाधाओं से दूर किसी भी दुख सन्तोष से असम्बन्ध हो अनन्त आनन्द का अनुभव करना।

अपने नियन्त्रण में अच्छी तरह लाये गये मन ही उत्कृष्टतापूर्ण मोक्ष के मार्ग का मार्गदर्शक होता है। अत: मन को परमेश्वर की भावना में तल्लीन कर देना चाहिए, जिस से तत्वविचार अर्थात सत्य के अन्वेषण की वृद्धि में बड़ी सहायता प्राप्त होगी। जब मन आकर्षणों से पूर्णतया मुक्त हो, निर्मल हो जाता है, तब 'मैं' का ज्ञान नहीं रहता याने अहंकार नहीं होता। अहंकार की भावना को विषयवासनाओं के साथ ही साथ विनष्ट कर तथा प्रपंच के समस्त

विषयों में निरासक्त हो मोक्ष मार्ग को पहचान लेना चाहिए। मोक्ष किसी विशेष स्थान का नाम नहीं है। वह न तो स्वर्गलोक में है, न कैलाश पर्वत पर ही है, न और कहीं दूर ही है। जब राग-द्वेष रहित हो इच्छाओं का मूलोच्छेदन हो जाता है, तब मन की चंचलता शान्त हो वहीं मोक्ष की सृष्टि होती है।

समस्त इच्छाओं का विनाश हो जाने पर ही आत्मज्ञान होता है। मन पर विजय पाये बिना इच्छाओं की ज्वाला को शान्त नहीं किया जा सकता। इच्छा रूपी ज्वाला को शान्त किये बिना मन पर विजय पाना साध्य नहीं है। मन बीज है; इच्छा वृक्ष है। जब तक आत्मज्ञान नहीं हो पाता, तब तक मन और उसकी चंचलता समूल नष्ट नहीं हो पाती अर्थात् आत्मज्ञान ही इच्छारूपी वृक्ष को समूल नष्ट कर सकता है। इस प्रकार इच्छा, मन तथा आत्मज्ञान एक दूसरे पर आधारित है।

जीवनमुक्त परमात्म ज्ञान में स्थिर रहता है। परमात्म ज्ञान के अद्भुत तेजस को पूर्णतः पहचान कर तथा मिथ्यादृष्टि व दोष दृष्टियों की वृद्धि न कर वह उनके द्वारा प्रापंचिक सुख दुःखों की ओर लक्ष्य नहीं करता। वह इस सांसारिक सुख, सम्पति, आनन्द इत्यादि को विषवत तुच्छ व प्रयोजनहीन मान कर, न तो उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करता है, न उसका आदर ही। यदि कोई उसकी प्रशंसा करे, अपमान करे, अपशब्द कहे या मार ही दे, वह सब को समान रूप से ग्रहण कर शान्त रह जाता है। कोई उसे न तो आनन्दित कर सकता न दुःखी ही; दोनों में अप्रभावित रहता है। इस प्रकार का जीवन मुक्त भी सर्वप्रथम अपने अस्थिर मन को धीरे धीरे अभ्यस्तकर नियन्त्रित रखने में विफल होता था; विफल होने पर पुनः वश में लाने का यत्न करता था तथा अपने लक्ष्य को सदैव अपने सामने

रखता हुआ इस श्रेष्ठ अवस्था को धीरे-धीरे ही प्राप्त किया था। जब कभी असफल हो जाता, तब अथक परिश्रम से अपनी निर्धारित साधना के पथ पर और अधिक उत्साहपूवक आगे बढ़ने का प्रयत्न करता था इस प्रकार का ज्ञानी इस संसार में शाश्वत रूप में जीने का विचार नहीं करता, वह तो इस भौतिक शरीर का त्याग करने के लिये सदैव प्रस्तुत रहता है।



दूसरा संबोधन

आत्मसाक्षात्कार

जीव तथा ब्रह्म के एकत्व को दृढ़तापूर्वक समझने का यत्न करना चाहिए। असम्भावन व विपरीत भावनाओं से संशय की निवृत्ति हो जाना ही दृढ़ अपरोक्ष-ब्रह्मज्ञान कहलाता है अर्थात अपरोक्ष ज्ञान उस स्थिति को कहते हैं, जिसमें साधक असम्भावन तथा विपरीतभावन के सन्देहों से निवृत्त होकर इस विश्वास में दृढ़ हो जाता है कि जीव तथा ब्रह्म एक हैं, दोनों सदा एक रहे तथा सदा रहेंगे। इस प्रकार के दिव्यमय ज्ञानोदय से अभास-आवरण फट जाता है।

ऐसा साधक अभास-आवरण से पीड़ित नहीं होता। वह यह नहीं कहता कि मैं दिव्यमय ब्रह्म नहीं हूँ, जैसे कि पहले कहने की आदत उसे थी। प्रत्येक जीव के हृदय में सूक्ष्माति सूक्ष्म अथवा स्थूलाति स्थूल रूप में परब्रह्म विद्यमान है। इसलिए जिस ज्ञानी ने अपने अन्तस्थल में ही आत्म दर्शन कर लिया है, वह किसी भी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करता। आत्मा छोटी सी चींटी से लेकर बड़े से हाथी तक के समस्त जीवों में है। प्रपंच अति सूक्ष्म आत्मा में व्याप्त है। अत: साधक को चाहिए कि वह अपनी दृष्टि को बाहरी जगत से हटा कर अन्तरमुखी बनावे, अर्थात् अपनी आत्मा के प्रति रखे। वह सदैव इसका ध्यान रखे कि समस्त मनोवृत्तियाँ कहाँ और कैसे उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार ध्यान रखने से उसके सकल संकल्प नष्ट हो जाते हैं। इसके पश्चात् ब्रह्मकार-वृत्ति याने वृत्त का विचार निरन्तर होने लगेगा, जिससे साधक सच्चिदानन्द की स्थिति में स्थिर हो जाएगा।

इस प्रकार का ज्ञानी कैसा भी सुख-दुःख क्यों न हो, अप्रभावित रहेगा। वह आत्मानन्द के सागर में पूर्णतयाः मग्न हो प्रपंच की गति-विधियों में कमलपत्रवत अप्रभावित व निष्कलंक रहता है। आत्मचिन्तन और कुछ नहीं ब्रह्माभ्यास या ज्ञानाभ्यास ही है।

मन विषयाशक्ति तथा विक्षेपशक्ति के कारण बाहरी विषयवासनाओं की ओर भागता ही रहता है, इसलिये बार-बार उसे लक्ष्य की ओर ले जाते रहना चाहिए। प्रारम्भ में यह थोड़ा कठिन सा लगेगा, परन्तु सतत अभ्यास के द्वारा मन को नियंत्रण में लाया जा सकता है; तदन्तर 'ॐ' यह, जो प्रणव मन्त्र है, मन को स्थिर करना चाहिए तथा साम, दान, उपरति, तितीक्षा, श्रद्धा, समाधान इत्यादि के द्वारा मन को बाँध रखने का अर्थात वश में रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

मन को क्रमशः उपनिषदों के अध्ययन, नियमित भजन, प्रार्थना सत्वगुण की वृद्धि इत्यादि के द्वारा ब्रह्म के ध्यान में लगाना चाहिए। बहुधा ध्यान करते-करते निम्नकोटि की आसक्तियाँ पैदा होने लगती हैं अर्थात नए-नए विचार, इच्छायें और संकल्प-विकल्प पैदा होने लगते हैं; परन्तु साधक को घबराने की आवश्यकता नहीं है, अपने अभ्यस्त मन को स्तर चिन्तनों के पीछे बिना दौड़ाये हृदय-गुफा में बन्दी बनाकर रखना चाहिए। इस प्रकार की साधना के परिणाम को निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

निर्विकल्प समाधि के परिणामस्वरूप पूर्ण ब्रह्मज्ञान हो जाता है। ब्रह्मज्ञान के फलस्वरूप मोक्षप्राप्त होता है याने जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति।

ब्रह्म-परायण में अर्थात् ब्रह्म के सतत चिन्तन में ही मन को विलीन

कर देना चाहिए; यों ब्रह्मनिष्ट बन कर ब्रह्माश्रय पाने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त वासनाओं का परित्याग मन की पवित्रता तथा तत्वज्ञान इन तीनों की समुचित साधना की अत्यन्त आवश्यकता है।

वासनाक्षय याने इच्छाओं को निर्मल करना, मनोनाश याने मन को निर्मल करना तथा तत्वज्ञान माने सत्य का अन्वेषण करना इन तीनों को समान रूप से आचरण में लाये बिना आत्मज्ञान का उदय हो ही नहीं सकता। इन तीनों में से किसी एक को कोई साधक अधिक काल तक अपने आचरण में लावे तो भी मन को अपवित्र करने वाली वासनाओं का शमन नहीं कर पाता; क्योंकि बाह्य वासनाओं के परिणामस्वरूप ही इन्द्रिय भोगासक्त हो जाती हैं। अतः विवेक, आत्मचिन्तन, विचार, शम, दम, वैराग्य, त्याग इत्यादि के द्वारा वासनाओं का निर्मूलन किया जा सकता हैं।

मन अनेक वासनाओं की ग्रन्थि है। वास्तव में मन ही जगत है। गहरी नींद में मन कार्य नहीं करता, इसलिए इस समय जगत का प्रभाव हमें ज्ञात नहीं होता। जगत के आदि और अन्त मन के संकल्प की उत्पत्ति व लय के अनुसार होता है; अतः त्यों ही मोक्ष की उत्पत्ति होती है।

जो व्यक्ति अपने चित्त को पूर्णतयः नियन्त्रण में रखता है, उसे आत्मा का दर्शन सुलभ हो जाता है। चित्त के संकल्प रूपी वृक्ष 'मैं' रूपी बीज से उत्पन्न होता है, अतः 'मैं' रूपी बीज को निकाल कर बाहर फेंक दिया जाए तो चित्त की इच्छा आदि समस्त संकल्प वृत्तियाँ अपने आप लुप्त हो जाती हैं।

जो साधक इन सफलताओं की प्राप्ति में अग्रसर होता है, उसे बहुत

ही सजग रहना पड़ता है, क्योंकि इन्द्रियां पुनः जब चाहें तब अपने पूर्ण वेग के साथ अपनी पूर्व अवस्था में बदल सकती हैं, अर्थात् बाह्य विषय-वासनाओं में मग्न हो जाती हैं मुमुक्षुत्व से अथवा योग साधना में जो इन्द्रियां सम्मलित हैं, वे पुनः बिगड़ सकती हैं, अतः साधक को चाहिये कि वह सांसारिक बन्धन में पड़े लोगों के साथ न मिले तथा असम्बन्ध वस्तुओं की चाह न करें, अर्थात सांसारिक बन्धनों से बचते रहने का सतत प्रयत्न करें।

सदैव सत्य के अन्वेषण में मग्न रहना चाहिए। कभी इच्छाओं की वृद्धि होने न दें। समय का अपव्यय न करें। एक सुख से दूसरे सुख की इच्छा होती है, सामान्यतः मन खोयी अपनी वाँछाओं को पुनः प्राप्त करने की प्रतीक्षा में रहता है; अतः साधक को चाहिए कि वह मनो-निग्रह में कदापि शिथिलता न लावे। इन्द्रियों के सुख भोगों से मन को बलात्पूर्वक खींच लेना चाहिए। मन की चंचलता की अवस्था में प्रार्थना भी नहीं की जा सकती, अतः एक ही स्थान में बैठकर प्रार्थना करनी चाहिए। ऐसे साधक की आत्मा ही बल है आत्मा ही धन है।

जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, वह ज्ञानी सुख और दुःख में एक समान रहता है। मन की प्रवृत्तियां उसे प्रभावित नहीं कर पाती। मन का नाश करने पर उसके चिह्न स्वरूप सुख-दुख ज्ञानी को कैसे विचलित कर सकते हैं ? जब ज्ञानी अपने मन को देह के साथ मिला हुआ पाता है तभी बाधाओं का अनुभव करता है। जब कोई नशे में होता है, तो उसे दुःख या असुविधाओं का अनुभव होता है। यही है न ? वह कैसे ? उस समय मन शरीर से असम्बन्धित रहता है। इसी प्रकार ज्ञानी भी अपने मन को आत्मा में लीन कर देता है। वह मान-सिक अभ्यास से अर्थात मन को नियन्त्रित प्रशान्त रखता है।

ज्ञानी अपनी आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करता हुआ, किसी

भी प्रकार के बाह्य आनन्द की आकांक्षा नहीं रखता। वह जो कुछ भी चाहता, उन सबका अपनी आत्मा में ही अनुभव करने में समर्थ होता है। अब उन में बाह्य आनन्द का अनुभव करने की कौन सी आकांक्षा शेष रह सकती है ? अतः ज्ञानी की महत्ता का वर्णन किया नहीं जा सकता, वह तो कल्पनातीत है।

श्रुति में कहा गया है—

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति,
ब्रह्मविद्परं आप्नोति'

अर्थात ब्रह्म का ज्ञाता स्वयं ब्रह्म हो जाता है, जिसने ब्रह्मतत्त्व को समझ लिया है वह उत्कृष्ट हो जाता है।

जैसे सभी बुलबुले पानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं, वैसे ही सभी प्रकार के नाम रूपमय यह प्रपंच ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही ज्ञानी का विश्वास है। उसका अनुभव भी यही है। जैसे समस्त नदियां समुद्र की ओर बहती तथा अन्त में सागर में विलीन हो जाती हैं, ठीक वैसे ही समस्त इच्छायें जीवन मुक्त की प्रशान्ति में लय हो जाती हैं। यही आत्म साक्षात्कार है। आत्मा की मृत्य नहीं होती; है न ? जन्म रहित आत्मा में षड्गुण कहाँ से आते हैं? नहीं। अतः श्रुतियों में कहा गया है कि आत्मा अज (जन्मरहित), अजर (जरा रहित), अमर (मृत्यु रहित) तथा अविनाशी (विनाश रहित) है।

अतः सभी षड्चरण केवल नश्वर शरीर पर घटित होते हैं; न कि आत्मा पर। इसे षड्भाव विकार की संज्ञा भी दी जाती है। उत्पत्ति, स्थिति, अभिवृद्धि, परिवर्तन, जरा तथा मृत्यु इन छः विकारों को ही षड्चरण कहा जाता है। आत्मा में ये छः विकार नहीं होते। वह तो

कूटस्त हैं; काल परिस्थितियों से होने वाले समस्त परिवर्तनों के साक्षि-भूत के रूप में आत्मा निःसंग है, जैसे कमल पत्र पर का जल बिन्दु अपने में स्थित प्राणवायु तथा बाहर की हवा से अप्रभावित रहता है।

मन की दबी उत्तेजना व सूक्ष्म बन्धनों से विमुक्ति ब्रह्म के वास्त-विक ज्ञान से ही सम्भव होती है। इस प्रकार की विमुक्ति ही वास्तविक स्वराज्य है। यही सच्चा मोक्ष है। जो व्यक्ति इस परिवर्तन शील जगत के पीछे छिपे परम सत्य को ग्रहण कर अन्य समस्त असत्यों पर केवल दृष्टिपात करता है, उसके लिए सकल वासनायें नाश हो जाती हैं। अज्ञान की यवनिका फट जाती है।

आध्यात्मिक रत्न का हरण जिसने किया है, वह चोर मन ही है; अतः मन रूपी उस चोर को पकड़ कर तथा डरा धमका कर सजा दी जा सके, तो वह रत्न पुनः प्राप्त किया जा सकता है। उस रत्न को प्राप्त कर लेने वाला तत्काल ही ब्रह्म के स्थान में अलंकृत हो जाता है।

इस प्रकार आत्म-ज्ञान प्राप्त महात्माओं की पूजा-सत्कार कर तथा उनके अनुभवों का श्रवण कर आनन्दित होना ही साधकों का लक्ष्य है। ऐसे साधक परम पवित्र हैं। ध्यान की साधना के द्वारा प्राप्त करने का स्वराज्य यही है। यही ब्रह्मरहस्य है, आत्मज्ञान है।



तीसरा संबोधन

ज्ञानियों का वर्गीकरण

ज्ञानी चार प्रकार के होते हैं—ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वार:, ब्रह्मविद्व-रीयान् तथा ब्रह्मविद्वरिष्ट:। यह वर्गीकरण ज्ञानियों के सात्विक गुणाभिवृद्धि याने गुणों के विकास के अनुसार किया गया है।

इनमें प्रथम ज्ञानी ब्रह्मविद् पत्यापत्ति नामक चतुर्थ भूमि में रहता है; द्वितीय ज्ञानी ब्रह्मविद्वार: असम्सक्ति नामक पंचम भूमि में रहता है; तृतीय ज्ञानी ब्रह्मविद्वरीयान् पदार्थ भावन नामक छटी भूमि में रहता है तथा चतुर्थ ज्ञानी ब्रह्मविद्वरिष्ट: सप्तम भूमि में तुरियावस्था में रहता है।

छठी भूमि में रहने वाला ब्रह्मविद्वरिष्ट: सदैव समाधि की अवस्था में लीन रहता है। ब्रह्मविद्वरिष्ट विदेही भी होता तथा देह में रहते हुये भी मुक्तावस्था में रहता है। उसे तो खाने पीने के लिए विवश करना पड़ता है। किसी भी सांसारिक कार्यों में नहीं लगता। ऐसे ज्ञानियों को देहस्पृह भी कहा जाता है। अन्य तीनों प्रकार के ज्ञानी जन ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वार: तथा ब्रह्मविद्वरियान—में अपने शरीर के सम्बन्ध में अन्य ज्ञान होता है। वे अपने-अपने संस्कार के अनुसार ही सीमित मात्रा में सांसारिक कार्यों में लगे रहते हैं। इन तीनों को भी अपने मन का नाश करना आवश्यक होता है। मनोनाश का अर्थ है मन को अन्तर्मुख करना, जिनकी दो अवस्थायें होती हैं स्वरूपनाश अर्थात् चित्त तथा

उससे धर्मों का नाश करना तथा स्वरूपनाश अर्थात केवल चित्त का नाश करना।

यहां पाठकों के मन में यह शंका पैदा हो सकती है कि कौन ऐसा है जिसने अपने मन का नाश किया हो? जिसमें राग, द्वेष, मद व मात्सर्य हैं तथा जिसकी इन्द्रियां भोगों में आसक्त हैं, ऐसा कोई भी व्यक्ति क्यों न हो; निश्चित रूप से यह बताया जा सकता है कि उसका मनोनाश नहीं हुआ है। ऐसे व्यक्ति के चित्त में सभी प्रकार की प्रवृत्तियां विद्यमान होती हैं। जिसके चित्त का स्वरूपनाश हुआ है, उस जीवन-मुक्त में राजस व तॉमसगुण भी नष्ट हो केवल सत्वगुण शेष रह जाता है। इस प्रकार के सत्वगुण के प्रभाव से वह मैत्री, करुणा व दया को अपने साथ ही साथ चारों ओर फैलाता चलता है। विदेहमुक्त ब्रह्मविद्व-रिष्टः में तो शुद्ध सत्व भी नष्ट हो जाता है। शुद्ध सत्वगुण के लक्षण हैं—प्रकाश, तेज, ज्ञान, आनन्द, शक्ति, समानता, आत्मविश्वास, पवित्रता, शुद्ध भावना इत्यादि। शुद्ध सत्वगुण में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। राजस एवं तामस शुद्ध सत्व से मिल जाने पर सत्व अप-वित्र हो जाता है इस अपवित्र सत्व के कारण ही अविद्या एवं अज्ञान की उत्पत्ति होती है। यही जीव के बन्धन का कारण है। राजस से विक्षेप शक्ति अर्थात असत्य में सत्य का भ्रम पैदा करता है। इसके कारण इन्द्रियों का बाह्य जगत के साथ सम्पर्क विस्तरित तथा गहन होता है। राजस अनुराग एवं मोह पैदा कर उसके द्वारा अनेक कर्म कराता तथा सुख-दुःख पैदा करता है। वह जीव को बन्धित कर क्रोध, दुराशा, गर्व, आसूय, दम्भ, कपट आदि दुर्गुण उत्पन्न करता है।

तथा तामस? वह दृष्टि को द्वेषित कर मनुष्य को अन्धा बना देता है तथा अज्ञान की वृद्धि करता है। अजाग्रत, आलस्य, निद्रा, मन्दता आदि तामस की उपाधियाँ हैं। जो गलत मार्ग पर ले जाने वाले

हैं। ज्ञान पर परदा डाल उसे अपने मन चाहे नाच नचाता है। बड़े-बड़े पंडित भी इस विक्षेप शक्ति से धोखा खा जाते हैं तथा जीवन के लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं; अतः तामस के जाल में फंस कर पंडित भी सही निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ हो जाते हैं; यदि तामस के बन्धन में एक बार पड़ जाए तो ज्ञानी भी भ्रमों तथा सन्देहों में ग्रसित हो जाते तथा वासनाओं के वश में विषयों के सुख-भोगों में आकृष्ट हो, प्राप्त अपने ज्ञान को भी खो बैठते हैं। फिर वे अपनी सम्पत्ति, स्त्री, संतति, संसार एवं जीवन की ऐहिक वस्तुओं को ही अपना सब कुछ मानने लगते हैं। इस प्रकार उन्हें असत्य में सत्य का तथा सत्य में असत्य का भ्रम होने लगता है।

देखो न, तामस कितना चमत्कारी है, धूर्त है ? माया के आवरण शक्ति से जीव अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप को पहचाने बिना ही चल रहा है। उपरोक्त यह शक्ति तामस का ही प्रभाव है। यह समस्त जगत अपनी अनेक समता सहित मूल रूप में उस विक्षेप शक्ति से उत्पन्न है. जिसमें अपनी विविधता धारण कर लेने की विलक्षण शक्ति है। उसके द्वारा ही विस्तृत हो रहा है अर्थात सृष्टि के नियमानुसार उसके समस्त विकास तथा विस्तार का प्रत्यावर्तन होता है। जब विश्व प्रलय होता है तब ये तीनों गुण समता में आ जाते हैं। इसे ही 'गुण साम्य' अवस्था कहते हैं। पर ईश्वर की इच्छा से प्रेरित त्रिगुण के सम-भाव में विक्षेप उत्पन्न होता है, जिससे जीवों को उनके धर्मों के अनुसार फल मिलता है। इस प्रकार सृष्टि का पुनर्निर्माण, विकास और फैलाव होता है। इस असमता की अवस्था को ही वैषम्यावस्था कहते हैं। इस प्रकार अन्तकरण से लेकर भौतिक शरीर तक उस माया का ही परिणाम हैं। इसी कारण माया अनात्मा कही जाती है। यह वह मृगतृष्णा है, जो मरुस्थल के तप्त रेत में जल का भ्रम पैदा करती है। यह माया ब्रह्म-दर्शन या आत्मसाक्षात्कार से नष्ट हो जाती है। कारण शरीर की

उपाधि तब होती है, जब बन्धु-मित्रों का सम्बन्ध होता है। वांछित प्रिय वस्तु जब मिलता है, तब सन्तोष होता है तथा प्राप्त वस्तु का अनुभव करता है, तो प्रमोद होता है। निद्रा तथा स्वप्न भी वृत्तियाँ ही हैं। जिसे अज्ञानवृत्ति कहते हैं; जो गाढ़निद्रा से ही उत्पन्न होती है। सभी वृत्तियों की निवृत्ति होनी चाहिए तभी आत्मज्ञान प्राप्त होगा। 'मैं' 'मेरा' क्रोध इत्यादि मन के परिणाम से उत्पन्न वृत्तियाँ हैं, जैसे झुण्ड के झुण्ड मक्खियाँ भनभनाती हैं, वैसे ही अन्तकरण से संकल्प एवं वृत्तियाँ एक ही प्रवाह में एक साथ उत्पन्न होती हैं।

किले के संकीर्ण द्वार से घुसने वाले शत्रु सैनिकों को जैसे एक ही सिपाही अनेक को मार गिरा सकता है, वैसे ही अनेक वृत्तियों को भी मन को आघात करने से पूर्व ही नष्ट कर देना चाहिए। इस संकल्प वृत्ति का मूल कारण बीज रूप में विद्यमान संस्कार ही है। समस्त वृत्तियाँ तब दूर हो जाती हैं, जब यह विचार किया जाता है कि मैं कौन हूँ ? जितनी भी वृत्तियाँ या संकल्प उत्पन्न क्यों न हो, केवल इस प्रश्नमात्र में कि मैं कौन हूँ, सकल वृत्तियाँ क्षण में नष्ट हो जाती हैं।

यही साधना रमण महर्षि ने की थी। अपने शिष्यों को भी इसी साधनामार्ग का उपदेश दिया था। यही सुगम मार्ग भी है अर्थात सब ब्रह्म ही है, इसका अनुभव करने का सतत प्रयत्न करना है। इसका तात्पर्य है कि साधक निरन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' इस मंत्र का जप करता रहे, जिससे साधक के अज्ञान की यवनिका फट जाएगी। सर्वप्रथम जीव में शुभेच्छा होनी चाहिए कि ब्रह्मतत्त्ववेत्ता के सन्निवेश में रहकर उनके द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा, आध्यात्मिग्रंथों के अध्ययन में उत्कण्ठा, मोक्ष प्राप्त कर लेने की तीव्र इच्छा तथा इन्द्रिय भोगों से विरक्ति। उपरोक्त इन चार प्रकार की अभिलाषा युक्त जो साधक

सद्गुरु के पादपद्मों में रह कर श्रुतियों के तत्वमसि आदि महावाक्यों के अन्तरार्थ समझ लेता है तथा उन महावाक्यों का मनन, जप व अर्थग्रहण कर एकाग्रचित्त हो निरन्तर चिन्तन करता है, उसे ही विचारण की अवस्था प्राप्त होती है। उपरोक्त दोनों प्रकार की साधनाओं से मन क्षण में ब्रह्म के चिन्तन में मग्न हो जाता है।

मन को सोपान बनाकर धीरे-धीरे ऊपर की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करना चाहिए। जिससे अन्त में ब्रह्मकारवृत्ति पैदा होती है। तन्डमनसि है जो तीसरी अवस्था है।

ऊपर कथित मार्गों के द्वारा सकल इच्छायें क्रमशः नष्ट हो जाती हैं। अब मन आराम से ब्रह्मकारवृत्ति में मग्न हो जाता है। इसे ही असंसक्ति की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में साधक का सम्बन्ध न तो बाह्य विषयों में होता है, न अपने संसार से ही।

आन्तरिक तथा बाह्य वस्तुओं पर पहले जो पुष्टि थी, पूर्णतया मिट जाती है। इसे अभाव प्रतीति करते हैं। इस अवस्था को प्राप्त ज्ञानी यदि किसी वस्तु पर दृष्टिपात करे तो उसे आकांक्षा रहित प्रोद्बन में देखेगा। इसे ही पदार्थ भावना कहते हैं। यह ज्ञानी आत्मानन्द में मग्न रहता है। आन्तरिक अथवा बाह्य त्रिपुटि में स्थित हो समस्त दृष्टि अपने आत्मानन्द में ही लगाकर उसी में मग्न हुआ रहता है। इसे ही तुरियावस्था कहते हैं, जो चतुर्थ अवस्था है।

कुछ लोग जाने, अनजाने, देखे या अनदेखे को लक्षित कर कल्पना करते और हवा के किले बनाते हैं। कुछ लोग इसे जागृतस्वप्न अर्थात जागृत अवस्था में स्वप्न कहते हैं। अन्य कुछ लोग ममता, मेरा, मैं इत्यादि भावनाओं के द्वारा अनेक जन्मों का सृजन करते रहते हैं। जिसे

महाजागृत कहते हैं। उपरोक्त ये सब भावनायें वृत्तियां ही हैं। जिस व्यक्ति ने इन सभी वृत्तियों का विनाश कर दिया है, वही ज्ञान के स्वाद का अनुभव कर सकता है। वृत्तियों का नाश करने पर ही आत्म-ज्ञानी बन पाएगा। जब तक नाम रूपों का ज्ञान होता रहेगा, तब तक वह सामान्य ज्ञानी ही कहा जा सकता है; अतः इन वृत्तियों का नाश करना सामान्य ज्ञानी का प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए।



चौथा संबोधन

तुम कौन हो ?

आकाश में संचार करने वाले मेघों में तथा आकाश में जैसे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही शरीर तथा परमात्मस्वरूप वाले तुम में कोई सम्बन्ध नहीं है। परमात्मस्वरूपी तुम देहावस्था में रह कर ही जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, आदि अवस्थाओं में कैसे प्रभावित होते हो ? तुम्हारी परछाईं जैसे तुम से पृथक है तथा उसकी स्थिति वग तियाँ तुम्हें प्रभावित नहीं करती, वैसे ही परमात्मा और शरीर का सम्बन्ध है। यदि हड्डी व माँस से निर्मित इस शरीर को ही 'तुम' मान लिया जाए, तो तुम जिसे अपना कहते हो, वह शरीर कहाँ है ? इस विषय पर परिशीलन करना ही ज्ञान है।

पंचभूतों से निर्मित शरीर केवल कल्पित ही है। वह अविद्या है जो अज्ञान से उत्पन्न है। जन्म से पूर्व अथवा मृत्यु के पश्चात् क्या यह शरीर रहता है ? नहीं केवल बीच के कुछ समय तक ही शरीर रहता है। यह शरीर निरर्थक है। यह केवल मन की गारुड़ी विद्या है। वास्तव में तुम सच्चिदानन्द स्वरूपी हो। मिट्टी से घड़ा, कटोरा, थाली आदि बनाए जाते हैं। यदि उनके अपने-अपने आकारों को बिगाड़ दें अथवा तोड़-फोड़ चूर-चूर कर दें, तो कालान्तर में निराकार स्वरूप वाली मिट्टी के अतिरिक्त वहां और कुछ नहीं रहता; उनके रूप बीच के काल में बनाए गए उपयोग मात्र हैं। निरूप मोह ही नाम, रूपों में स्थाई रहता है। सच्चिदानन्द स्वरूप वाले समस्त रूप नहीं हैं । सब कुछ

वही है। अतः त्रिकालातीत परमेश्वर जो है, वही तुम हो। केवल नश्वर शरीर मात्र तुम नहीं हो। इस रहस्य को समझ कर जो व्यक्ति निरन्तर यह मनन करता रहता है कि मैं ही परब्रह्मस्वरूपी हूँ; वही ज्ञानी है। मन जब तक वस्तु में मनुष्य में अथवा स्थल में आसक्त रहता है, तब तक जीव बन्धन में पड़ा रहता है; इनसे निरासक्त होना जीव की मुक्ति है। अतः अनुराग (राग) ही बन्धन है, मृत्यु है। विमुक्ति ही शाश्वत जीवन है।

'मनमेव मनुष्याणाम् कारण बन्धमोक्षयोः ।।'

अर्थात् मन ही मनुष्य वन्धन व मुक्ति का कारण है। आसक्ति ही अनुराग है। यह अनुराग ही कर्म के लिए कारण है। अनुराग ही इद्रियों को चंचल बना देता है।

भय और क्रोध अनुराग के मित्र हैं। केवल प्रमुख मित्र नहीं, प्राण मित्र हैं। अनुराग जहाँ होता है वहीं क्रोध और भय होते हैं, वे सटे रहते हैं; अतः पतंजलि ने भी राग (अनुराग) के सम्बन्ध में यों बताया है—

'सुखानिश्रायि रागः'

वे कहते हैं कि सौख्य की ओर आकृष्ट होने का कारण आसक्ति ही है। जो सुख-सौख्य है, वे सब अनुराग ही हैं। विषयों से प्रभावित होने से आसक्ति होती है। आसक्ति के द्वारा इच्छायें अंकुरित होती हैं। इच्छाओं से क्रोध, उसके द्वारा सुख-दुःख रूपी द्वन्दों का चक्र बहुत ही भयंकर रूप में निर्मित होता है। जो बचने न देता, वही अज्ञान है।

जैसे खूब तपाने से स्वर्ण की मलीनता दूर हो जाती है, जिससे स्वर्ण जगमग झलकने लगता है; वैसे ही गहरे विवेक तथा विचार से राजस,

तामस, भ्रांति, वाञ्छा व क्रोध रूपी मलीनतायें दूर की जा सकती हैं, जिसमें आत्मज्ञान के आलोक का दर्शन हो पाता है। जैसे तीव्र लू अपनी धूली से सबको आच्छादित कर देती है, वैसे ही वासना, संकल्प, तृष्णा इत्यादि से मलीन मन परब्रह्म पर आच्छादित है। अतः परब्रह्म का साक्षात्कार करने में वह मन बाधक बन जाता है। जितना भी कष्ट क्यों न भोगना पड़े, परन्तु मन को अल्प भी शिथिल न करना चाहिए। उन्नत एकाग्र दृष्टि के द्वारा मन को विषयों से हटा कर वश में लाना चाहिए। पवित्र अन्तःकरण समेत उसे आत्मा की शरण में लाना चाहिए। तब सविकल्प समाधि से निर्विकल्प समाधि की ओर अग्रसर हो पूर्व निर्मोह हो जाने पर निर्विकल्प समाधि सम्भव होती है। यही सम्पूर्ण आत्मज्ञान का उदयांचल है। निर्विकल्प समाधि के द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर ही अविद्या, कर्म, काम आदि बन्धन टूटने लगते हैं। समाधि में मग्न हुए मन के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार सम्भव होता है।

जो साधक ब्रह्मज्ञान का अनुभव करने का प्रयत्न करता है, उसे चाहिए कि वह अपने शरीर की भ्रांति पूर्णतयः दूर कर ले, जैसे सर्प अपनी केंचुली को निकाल देता, तो पुनः उसकी ओर ध्यान तक नहीं देता। आत्मबल रहित साधक इसे समझ लेने में असमर्थ होते हैं। आत्मचिन्तन के द्वारा क्रमशः प्रापाँचिक व्यवहारों से मुक्त हो जाना चाहिए, जिसके लिए जटिल साधना की अत्यन्त आवश्यकता है। वास्तव में साधक अपने समस्त प्रापंचिक विषयों से तथा इन्द्रिय भोगों से पूर्ण विरक्त हो शाश्वत ब्रह्म को पहचानता तथा तपस्या के रूप में उसी का चिन्तन करता रहता है। मनुष्य केवल भौतिक भोगों की ही इच्छा करता है, बाह्य विषयों में नर जीवन के आनन्द की अभिलाषा कर उसकी सफलता के निमित्त कल्पना करता रहता है। यह कैसा पागलपन है ? सब प्रकार के अज्ञान एवं दुःखों का मूल कारण 'मैं' 'मेरा' आदि

अहंकार ही है। जहाँ अहंकार ही नहीं, वहाँ बाह्य विषयों का ज्ञान ही नहीं होता; यदि बाह्य विषयों का परिज्ञान नहीं होता, तो 'मेरा' इत्यादि अहंकार नहीं होता। अतः विवेकवन्त अपने विलक्षण शक्ति से बाह्य विषयों में अपरिचित हो सर्वदा भगवान के प्रतिनिधि के रूप में आचरण करता है।

एक वार किसी बातों के सन्दर्भ में लोकानुभव के निमित्त वशिष्ट महर्षि ने श्री रामचन्द्र से निम्न प्रकार कहा।

'ओ पराक्रमी राम ! जीव वृषभ है, जो संसार रूपी विशाल विपिन में मोह रूपी छायादार बृक्षों के तले सो रहा है, वह इच्छा रूपी रस्सी से बंधा पड़ा है। व्याधि रूपी कृमि की आदि से घुन गया है। अज्ञान रूपी अन्धकार में भटक-भटक वह विषयलोलुप इन्द्रियभोगाभक्त हो पाप के गहरे रंग में लथपथ हो रहा है। इस प्रकार की अवस्था में भी विवेक वन्त सज्जन के सत्संग व विज्ञान के द्वारा संसार रूपी घोर अरण्य से बाहर हो सकता है। अतः विवेक-विचार से विज्ञान को प्राप्त कर तथा विज्ञान से सत्य को ग्रहण कर आत्मसाक्षात्कारी बनते हैं। ऐसे साधक आत्मज्ञानी कहे जाते हैं। इस प्रकार यदि देखा जाए तो ज्ञात होगा कि आत्मज्ञान ही जीवन का लक्ष्य है। यही तुरियातीत है।

परन्तु एक विषय है जिसे ध्यानपूर्वक ग्रहण करना चाहिए तथा उस पर ध्यान देना चाहिए। बाह्येन्द्रियों से सम्बन्धित समस्त विषय वासनाओं का परित्याग मात्र पर्याप्त नहीं है। अन्तरंग में स्थित तीव्र अभिलाषाओं का निर्मूलन परमावश्यक है। उसे तृष्णा भी कहते हैं। आन्तरिक व वाह्य विषय वासनाओं का विनाश जिसने किया है, वह मुक्त तृष्णी कहा जाता है। यदि तृष्णाओं की वृद्धि हो जाए, तो मन अशान्त हो उठता है। जिसने आत्मा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही

समस्त तृष्णाओं का निर्मूलन करने में समर्थ हो सकता है। जो ज्ञानी महामन्त्र 'अहंब्रह्मास्मि' का सार्थक अभ्यास कर सफल हो जाता है, उसका मन पूर्णतय: सत्वगुणी हो जाता है। स्थूल व सूक्ष्म शरीर, मन, बुद्धि, प्राण तथा समस्त गुणों का परित्याग कर देने पर जो शेष रहता है, वह केवल सत्य है अर्थात परब्रह्म, है न ? इसलिए साधक यह अनुभव करने लगता है कि सर्वव्यापक सर्वेश्वर ही मैं हूँ। जो साधक अपनी साधना तथा महावाक्य 'अहंब्रह्मास्मि' का सम्यक अभ्यास नहीं करता, वह यह समझ बैठता है कि शरीर ही परब्रह्म है।

सत्, चित्त, आनन्द का तात्पर्य है कि शाश्वत रहने वाला अक्षय। निराकार का अर्थ है रूप रहित। सर्व व्यापक परमात्मा का रूप कैसे हो सकता है ? पर व परम का अर्थ होता है समस्त पदार्थों में अत्यन्त उत्कृष्ट। अतः परब्रह्म का अर्थ यह होता है कि जो समस्त पदार्थों के परे है तथा तीनों लोकों में श्रेष्ठ है, वह। अद्वैत का अर्थ है एक स्वरूप शाश्वत जो भी हो, वह केवल एक ही होता है। अतः जो दो या दो से अधिक होते हैं। वे शाश्वत नहीं हो सकते।

जब दो होते हैं, तब भेद होता है। जब भेद होता है, तब तर्क अनिवार्य हो जाता है। ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, अतः एक स्वरूपी होता है, जिसका अन्वेषण असम्भव है। इसका बोध ही सच्चा ज्ञान है।



पांचवां संबोधन

सच्चिदानन्द परब्रह्म की परिभाषा

ब्रह्म शब्द 'व्रिह्' धातु से बना है। व्रिह् का अर्थ होता है फलना, विस्तरित होना। 'ब्रिहत्' का अर्थ होता है बड़ा, विशाल, उच्च तथा स्थूल। पुरुष शब्द 'प्रिय' से बना है। 'प्रि' का अर्थ होता है गिरना। पूरा करना, पूर्ति करना इत्यादि। 'पर' का अर्थ नगर है, अस्थाई देह भी कहा जा सकता है। देह माने होना, जो पूर्ण करने वाला (अन्तर्व्यापी) है उसे ही पुरुष कहा जाता है। 'आत्मा' शब्द 'अप' धातु से बना है, 'अप' का अर्थ है पाना, आक्रमण करना, अर्जन करना इत्यादि। आत्मा को जान लेता है उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार के ज्ञानी को जब सर्व व्याप्ति ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह सच्चिदानन्द बन जाता है। सच्चिदानन्द का अर्थ है ब्रह्म का देह। स्वरूप का अर्थ है उसका सार, जो ब्रह्मानन्द ज्ञान तथा शान्ति से बनता है। सत् शान्ति का सार है। चित्त ज्ञान का सार है। इसके साथ आनन्द मिल कर ब्रह्म का स्वरूप बनता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में बताया गया है—'ये सब कुछ आनन्द से उत्पन्न हुए हैं। आनन्द से ही ये सब कुछ जीवित हैं। ये सब आखिर आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं। आनन्द में ही विश्राम करते हैं।' इस प्रकार ज्ञान के द्वारा प्राप्त यह एक ही स्वरूप हैं। 'अन्तरात्मा' उपर बताये गये आनन्द के ही स्वाभाविक गुणों से युक्त होता है। अन्तरात्मा भी आनन्द से उत्पन्न, आनन्दयुक्त तथा

आनन्द में ही लीन होने वाली है। अन्तरात्मा ज्ञानानन्द से जितना पूर्ण होती है। उतना ही मानव का स्वरूप स्पष्टतय: समझ में आने लगता है। जितना ही ज्ञान होता जाता है, उतना ही आनन्द मिलता जाता है, मानों आनन्द ज्ञानी के दाहिने हाथ में हो; जो संकट की अवस्था में सहायक होता है तथा सदैव उसे बचाने को प्रस्तुत रहता है।

ऊपर जैसा बताया गया है, उसके अनुसार आनन्दस्वरूपी मानव को आनन्द देता है। उसके भुज सन्तोष हैं। आनन्दमय देह ब्रह्म ही है। भूमा (भूमि) माने अनन्त है। छान्दोग्योपनिषद में बताया गया है कि शाश्वत ब्रह्म भूमा में मात्र आनन्द स्वरूप में है।

ज्योतिस्वरूप का तात्पर्य होता है स्वयं ही प्रकाशित होने वाला कान्तिमय परमात्मा की दिव्य कान्ति के सम्मुख कोटि सूर्यों की कान्ति भी तुच्छ है। शान्तिस्वरूप याने शान्ति ही जिसका स्वरूप है अर्थात् शान्ति ही परमात्मा है।

'अयं आत्मा शान्तो' अर्थात प्रशस्ति ही यह आत्मा है। यह श्रुतियों का कथन है न? वैसा ही परमात्मा सदैव नित्यशुद्ध, नित्यबोध, नित्यमुक्त, नित्यतृप्त, नित्यविज्ञान एवं नित्यचैतन्य स्वरूपी, शुद्ध अर्थात पवित्र कामनाएँ तथा विज्ञान ही ब्रह्म का स्वरूप है; इसी कारण वह नित्य बोध स्वरूपी है। वह सदैव विमुक्त है, असंग है। ब्रह्म नित्य युक्त स्वरूपी है, शाश्वत तृप्ति है।

ज्यों ही ब्रह्मज्ञान का स्वाद चखा जाता है, त्यों ही सकल इच्छाएँ लुप्त हो शाश्वत तृप्ति हो जाती है यह शाश्वत तृप्ति भी मुक्ति ही है। विज्ञान अर्थात ब्रह्म का सप्रत्यक्ष साक्षात्कार तब प्राप्त होता है, जब उसका अनुभव होता है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। साधारणतय ग्रन्थ पठन के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह सर्व सामान्य ज्ञान है।

किसी एक शास्त्र के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को भी विज्ञान कहा जाता है। ज्ञान, विज्ञान, चित्, चैतन्य, सारिवित्त, प्रज्ञान इत्यादि अनुपम ब्रह्मज्ञान की ही विविध संज्ञाएँ हैं। चैतन्य शुद्ध अन्तकरण है इसका अतिरिक्त शब्द जड़ हैं; चैतन्य माने आत्मज्ञान। ब्रह्म नित्यचैतन्य स्वरूपी है।

ज्ञानी यह अनुभव करेगा कि प्रत्येक प्राणी में जो आत्मा विद्यमान है, वह अपनी ही आत्मा है। वह ज्ञानी सानन्द यह घोषित कर सकेगा कि 'सर्वोस्यि' अर्थात् सब मैं हूँ। वह मनुष्य मनुष्य के बीच कोई अन्तर नहीं देखता। वह स्वयं निर्गुण ब्रह्म हो जाता है। जाति, वर्ग, धर्म इत्यादि के भेद देह के लिए ही है, न कि आत्मा के लिए। यह जीव के लक्षण हैं। आत्मा निष्कलंक है, अर्थात अंग रहित है, वह निर्मल है अर्थात काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य इत्यादि जिसे स्पर्श भी नहीं कर पाते, वही निर्मल है। वही निष्क्रिय है अर्थात कर्मरहित है। समस्त प्रकृति का सृजन करते हुए भी परमात्मा केवल साक्षिभूत के रूप में सब कुछ ध्यानपूर्वक देख रहा है। इसी कारण वह निष्क्रिय है।

जो त्रिकालातीत है, आदि-अन्त रहित है, निष्फल है, एक रस है तथा एकरूप है वही सत्य कहलाता है। मन, देह, प्राण, इन्द्रियाँ इत्यादि चलायमान तथा परिवर्तनशील है। इनके आदि और अन्त है, ये जड़ है, त्रिगुणरूप है तथा उत्पन्न होते हैं; अतः ये असत्य है केवल ब्रह्मोत्पादक है। ये पारमार्थिक सत्य नहीं होते। व्यवहारिक प्रतिभासिक है अर्थात दूसरे के प्रकाश की सहायता से चमकने वाले अनाथ हैं।

आत्मा अनन्त है याने अन्त रहित है, सीमा रहित है। जो काल व परिस्थिति रहित है वही नाश रहित शाश्वत एवं सबका अपरिछिन्न आधार है। जो अमेघ है अर्थात् शाश्वत है, उसे समझ लेना ही ज्ञान है वह अनिर्देश है अर्थात जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता

तथा निर्देश किया नहीं जा सकता; बुद्धि व अन्तःकरण के लिए भी जो अतीत है उस परब्रह्म का केवल शब्दों में कैसे वर्णन किया जा सकता है।

वह अदृश्य है अर्थात् भौतिक नेत्रों से उसे देखा नहीं जा सकता। जो पदार्थ भौतिक नेत्रों से देखे जा सकते हैं, वे अशाश्वत हैं। इसी कारण शाश्वत परब्रह्म भौतिक नेत्रों को दिखाई नहीं पड़ता। जिससे नेत्र देख पाते हैं, उसी को नेत्र कैसे देख सकेंगे? मन, काल, कारण व देश इन तीनों की सीमा के बीच बन्धित है। परब्रह्म जो काल-देश से परे तथा उनसे अप्रभावित है, वह कैसे निर्देशित हो सकता है?

अमल, विमल, निर्मल इत्यादि एक ही भाव वाले शब्द हैं। केवल अ, वि अथवा निर उपसर्ग के लगने से शब्द में नहीं, न, रहित या हीन का अर्थ बोधक होते हैं जैसे अमल शब्द का अर्थ होता है, वह जो मलीन नहीं है; इसी प्रकार निर्मल शब्द का अर्थ मलीनता रहित होता है तथा विमल शब्द का अर्थ होता है, वह जिसकी सभी मलीनता नष्ट हो गई हो। इसी प्रकार अचिन्त्य का अर्थ यह होता है कि जिसका चिन्तन नहीं हो सके; अव्यवहार्य का अर्थ, जो काम का नहीं है, होता है। एक को छोड़ अन्य संख्याएँ जैसे दो-तीन आदि का प्रयोग किसी भी भौतिक पदार्थ वाचक संज्ञा के साथ किया जा सकता है, परन्तु परब्रह्म के साथ नहीं। परब्रह्म एक ही है, इसी कारण एक को छोड़ कर दो-तीन आदि संख्याओं का प्रयोग नहीं किया जाता। परब्रह्म तो एकमेव अद्वितीय है। यह जगत उस विराट पुरुष परब्रह्म का ही स्वरूप है।

परब्रह्म अन्तर्यामी है। ब्रह्म माने जो हुआ याने सृष्टित हुआ है वह। निर्गुण ब्रह्म माने महाकारण ब्रह्म है। ईश्वर करण ब्रह्म है। हिरण्यगर्भ माने महापुरुष है, जो कार्यब्रह्म है। इस रहस्य को समझना ही ज्ञान है।



छटा संबोधन

ज्ञान ब्रह्म स्वरूप है

बहुत से लोग यह तर्क करते हैं कि ज्ञान ब्रह्म का स्वभाव है। यह तर्क केवल अनुभव की शून्यता के कारण होता है। अनुभव हीनता के कारण इस प्रकार के जो भी वादविवाद छिड़ते हैं, वे सत्य नहीं होते। ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है, मैं निश्चित अभिप्राय से जोर देकर कहता हूँ कि ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है।

शास्त्रों एवं वेदों में यह बताया गया है कि ब्रह्म सत्य-ज्ञान आनन्द-मय है। परन्तु ब्रह्म के सत्य-ज्ञान-आनन्द का स्वभाव ज्ञात नहीं होता।

वास्तव में ब्रह्म का वर्णन यों नहीं किया जा सकता है कि वह ऐसा है, वैसा है आदि। इसी कारण ब्रह्म को सन्मात्रस्वरूपी कहा जाता है, अतएव ज्ञान की बात भी ऐसी ही है। इसे भी सन्मात्रस्वरूपी माना जाता है।

श्रुतियों में यह बताया गया है न, कि ज्ञान ही ब्रह्मस्वरूप नहीं है, ब्रह्म विज्ञान धन है? श्रुतियों में, शास्त्रों में तथा वेदों में जैसा बताया गया है, वैसा ही समझ लिया जाता है कि ब्रह्म दूसरा है तथा ज्ञान दूसरा है। इनमें भेद असम्भव है; इनमें भेद अज्ञान के कारण किया करते हैं।

ज्ञान त्रिगुणातीत है; गुण स्वभाव से युक्त अज्ञान, कैसे ज्ञान हो सकता है। ब्रह्म भी तो गुणातीत है; अतः ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्म

और ज्ञान निर्गुण ही है। अतएव पहला (ब्रह्म) सगुण तथा दूसरा (ज्ञान) निर्गुण नहीं हो सकता यदि ब्रह्म में उसके गुणों का होना निरूपति करे तो यह केवल जीव का अपनी जीवास्था में होने वाली अविद्या के कारण ही सम्भव है।

'ज्ञानेन हीना: पशुभिस्समाना:'

अर्थात ज्ञान रहित व्यक्ति पशुओं के समान है। वेदों ने स्वीकार किया है कि ज्ञान ही सर्व अनर्थों की निवृत्ति करने वाला शाश्वत मोक्ष है, जिस प्रकार किसी स्थान के अनेक मार्ग होते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म स्थान के भी अनेक मार्ग होते हैं। जिनमें भक्ति मार्ग मुख्य माना जाता है। इस मार्ग के अनुसार ही वशिष्ठ, नारद, व्यास, जयदेव, गौरांग इत्यादि महापुरुषों व महात्माओं ने भी भक्ति का अवलम्बन लिया है।

जैसे दीपक के लिये तेल आधार स्वरूप है, वैसे ही ज्ञान-ज्योति के लिये ईश्वर भक्ति रूपी तेल है। अत: यह समझ लेना चाहिए कि ज्ञानानन्द रूपी मन्दार वृक्ष के निमित्त भक्ति जल के समान है।

इसके अनुसार ही करुणानिधि प्रेमस्वरूपी कृष्ण ने गीता में बताया है कि 'भक्त्या मामभिजानाति' अर्थात भक्ति के द्वारा मुझे जान लेते हैं। इसका कारण क्या है ? भक्ति-मार्ग में कोई कठिनाई नहीं है। आबालवृद्ध, चाण्डाल ब्राह्मण, स्त्री-पुरुष आदि सब के सब इसके पात्र (साधक) ही हैं। जैसे रोगी के लिए ही औषधि की परम आवश्यकता होती है, वैसे ही जिसे जितना ही अधिक अज्ञान होता है, उसे उतना ही अधिक ज्ञान का अनुष्ठान करना ही पड़ता है; यह कथन सच है न ? जिसे भूख नहीं है, उसके लिए अन्न किस काम की चीज है ?

जिसे रोग नहीं है, उसे औषधि किस लिए ? सच्चा ज्ञान रूपी ब्रह्म का पान कर लेने मात्र से ही अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है ।

इस प्रकार अज्ञान से निवृत हो जाने की इच्छा रखने वाला कोई भी साधक क्यों न हों; ज्ञान को साध्य बना सकता है । ज्ञान रूपी अग्नि समस्त मलीनता को जला कर भस्म कर देती है । किसी भी जाति-वर्ण लिंग का व्यक्ति क्यों न हो, सब को ज्ञानार्जन करने का पूरा अधिकार है । यदि कोई कहे कि स्त्रियाँ ज्ञानार्जन की अधिकारिणी नहीं बन सकती, उससे जरा पूछिए कि परम सुलभ प्रिय परमेश्वर ने पार्वती को वेदान्त का उपदेश क्यों दिया ? भगवान महायोगीश्वर कपिलाचार्य ने अपनी माँ देवहूति को ब्रह्मबोध कराने की उत्कण्ठा से प्रेरित हो सांख्य तत्त्वों का उपदेश क्यों दिया ? ऋषिवर याज्ञवल्क्य ने अपनी भाभी मैत्रेयी को वेदान्त सार का तत्त्वोपदेश क्यों दिया ? जिसका वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है । वे ग्रन्थ जो सत्य की पुष्टि करते हैं, क्या उनके कथन असत्य हैं ? नहीं, यह तो परम सत्य है ।

श्री मद्रामायण में भी बताया गया है कि ऋषिपुंगव मीलंग ने शबरी को ब्रह्म तत्व का उपदेश दिया था क्या यह अनर्थ है ? इतना ही नहीं कलियुग में उभयभारती ने जो सुरेश्वराचार्य की धर्मपत्नी थीं, जगद्गुरु शंकराचार्य से ब्रह्म सम्बन्धित जो वाद-विवाद किया था, क्या यह कोई नहीं जानता ? अतः कोई भी शक्ति क्यों न हो, उनकी साधना व तपस्या ही प्रमुख कारण होती है, न कि उनकी जाति, धर्म, लिंग आदि भेदभाव ।

अतः अब समस्त विषयों को छोड़ साधना व तपस्या करनी चाहिए । करुणानिधि परमात्मा सबका अपना है; सबको उपलब्ध होने वाला है । ईश्वर को छोड़ अन्य किसी को भी यह कहने का अधिकार

नहीं है कि अमुक को अमुक निष्ठा करने का अधिकार है। अमुक को ज्ञाननिष्ठा का अधिकार नहीं है, इत्यादि। और थोड़ा अधिक गहरे में विचार करें तो तुम लोग यह समझ जाओगे कि भगवान किसी को भी अपने तक आने में मना नहीं करता। क्या अग्नि से निकली चिनगारी को स्वीकार करने से अग्नि मना करती है ? क्या सागर से बिखरे जल-कण को अपने में मिला लेने को सागर अस्वीकार करता है ? दया सागर परम कृपालु परमेश्वर किसी को भी मना या अस्वीकार नहीं करता। जरा और भी गौर से विचार करें, तो तुम लोग समझ जाओगे कि भगवान अपनी ओर तुम को आने से मना नहीं करता, परन्तु तुमको अपने बन्धुबान्धवों के साथ मिल जाने में मना कर सकता है। क्या यह बात असत्य है ? क्या मैं झूठमूठ यों बता रहा हूं ?

मान लें कि किसी पिता के चार पुत्र हैं। यदि वह यह घोषित करे कि अमुक को सम्मत्ति का अधिकार नहीं है, तो क्या यह अन्याय न होगा ? इसी प्रकार यदि यह कहें कि किसी को ब्रह्म-विद्या का अधिकार है तथा और किसी को नहीं है, तो क्या लोग यह कह कर भगवान का दूषण न करेंगे कि यह निष्पक्षपाती करुणामय परमेश्वर का पक्षपात है ? गीता में साक्षात कृष्ण ने बताया है कि मुझे अमुक प्रिय है या अमुक अप्रिय है; ऐसी बात नहीं है; किसी भी कुल में क्यों न पैदा हुआ हो, स्त्री हो अथवा पुरुष, भक्तिपूर्वक जो मुझे भजता है, वह भक्त कोई भी क्यों न हो, मुझे प्राप्त होता है। अतः समझ लें कि मैं भक्तों के हृदय में नित्य रहता हूँ। गीता का यह कथन क्या असत्य है ? नहीं, गीता केवल सत्य ही बताती है।

संसार में यह एक असत्य धारणा फैल गयी है कि ब्रह्मनिष्ठा का अभ्यास करने वालों को सर्वप्रथम आचारनिष्ठावान हो पवित्र हो जाना चाहिए। इस बात से मैं कदापि सहमत नहीं हो सकता। रोग ग्रस्त

को ही औषधि की आवश्यकता होती है न ? औषधोपचार के बिना रोग दूर हो सकता है ? यह कहना कि आचार निष्ठा के द्वारा पवित्र हो जाने पर ही ब्रह्मनिष्ठा का अभ्यास करना चाहिए, ठीक उसी प्रकार है, जैसे रोग की निवृत्ति हो जाने पर ही औषधोपचार करना चाहिए। ये सब अनंगल बातें हैं; बच्चों की, नासमझ की बातें हैं। केवल औषधोपचार के पश्चात ही रोग दूर हो सकता है, न कि औषधि का निश्चय करते ही। ऐसी परिस्थिति में बहुत से लोग इस पर ध्यान नहीं देते; यह भी एक बीमारी ही है।

अतः अज्ञान रूपी महारोग में ग्रस्त लोगों को चाहिए कि वे सबसे पहले ज्ञान प्राप्त करने के लिए ग्रन्थों का अध्ययन करें। केवल बड़े महात्माओं के अनुभवों का श्रवण करने अथवा जान लेने से ही सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः अनुभवी पुरुषों का आश्रय पाकर सत्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

इसमें एक रहस्य भी है, जिसे अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। औषधि का सेवन करने वाले को उसके योग्य पथ्य का पालन करने में असावधानी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि पथ्य ही प्रधान है। पथ्य का पालन यदि सम्यक रूप में नहीं हो पाता, तो कितनी ही श्रेष्ठ औषधि क्यों न हो, व्यर्थ हो जायगी। केवल इस मर्म को कभी नहीं भूलना चाहिये। यदि औषधि के सेवन के साथ ही साथ उसके उपयुक्त पथ्य का भी सम्यक पालन हो जाय तो रोग की निवृत्ति में कोई सन्देह नहीं रहेगा। ठीक इसी प्रकार कितने ही महात्मा लोग ज्ञान-रूपी औषधि के सेवन के साथ ही साथ आचार रूप पथ्य का भी पालन कर अज्ञान रूपी रोग से निवृत हो गये हैं तथा ज्ञान के द्वारा परब्रह्म में लीन हुए हैं।

जरा विचार तो कीजिए कि वे महात्मा किस जाति, वर्ण वर्ग-लिंग के थे ? कनिष्ट वेश्या से हुए, नारद धोबन के पुत्र थे, बाल्मीकि ने ब्याध के कुल में जन्म लिया, विश्वामित्र क्षत्रिय वंश में पैदा हुये तथा मातंग पुगंव एक अछूत स्त्री के गर्भ से पैदा हुए। उनकी महानता का कारण उनका जाति-धर्म कुल नहीं था, बल्कि उनकी परमेश्वर से ध्यान आदि निष्ठा ही थी। इस प्रकार एक-एक भाव को निरूपित कर उसके निदर्शन में लवलीन हो जाना ही ज्ञान है।

यों यथार्थ भगवत् तत्त्व का दर्शन करना ज्ञान है। यह द्वैतभाव रहित अद्वैत है। अद्वैत ही ज्ञान है, ज्ञान ही वृक्ष है। जैसे शक्कर से बनाई गयी मूर्ति का मीठापन उसके पेट से लेकर सिर तक के सभी अंगों में समान रूप से होता है, परन्तु ऐसा नहीं होता है कि हाथ का मीठापन एक प्रकार, पैर का दूसरा प्रकार, सिर का तीसरा प्रकार, मुख भाग का और ही प्रकार। एक ही परमात्मा से अवतरित मनुष्य जिन में एक वर्ग मुख से, दूसरा वर्ग बाहुओं से, तीसरा उदर से तथा चौथा चरणों में उत्पन्न माने जाते हैं, क्या ये सब उस एक ही परमात्मा के पुत्र नहीं हैं ? यथार्थ सत्य ही ज्ञान है। कोई भी अंग क्यों न हो, वह परमात्मा का ही एक अंग है।

कटहल के पेड़ को देखो न ? उसके मूल भाग से लेकर ऊपर की शाखा-प्रशाखाओं तक समस्त भागों में फल ही फल लगते हैं। फल कहीं भी उत्पन्न क्यों न हो ? क्या जड़ के फल में तथा शाखा के फल में कोई विशेष अन्तर होता है ? सब समान ही होते हैं न ? सामान्यतः उसमें पिन्दा, कच्चाफल तथा फल का भेद मात्र होता है तथा उसके अनुसार उनके स्वाद में भी अल्प भेद होता है, जो प्रकृति का अपना नियम है, परन्तु कदापि ऐसा नहीं है कि नीचे का फल कड़ुवा, ऊपर का मीठा और बीच का कसैला। अतः पिन्दापन, कच्चापन तथा पक्कापन इसके तीन गुण माने जा सकते हैं।

वर्णों की भी वही बात है। चार वर्ण माने चार प्रकार के लोग। चार प्रकार के गुण वाले ये चार प्रकार के लोग अपने अपने गुण तथा कर्म के अनुसार होते हैं, जैसे एक वृक्ष के एक ही समय के फलों में कुछ पिन्दे, कुछ कच्चे तथा कुछ पक्के होते हैं। जैसे उन्हें अपने गुणों के अनुसार तीन भागों में बाँटा गया है, वैसे ही वर्गों का भी वर्गीकरण उनके अपने गुण-कर्मों के आधार पर चार प्रकार किया गया है। जिनमें सत्व गुण प्रधान होता है, उन ब्रह्मनिष्ठ के ब्राह्मण वर्ग में, जिनमें रजोगुण प्रधान होता है वे क्षत्रिय वर्ग में इत्यादि। इस प्रकार ही शास्त्रों में बताया गया है, न कि और प्रकार।

भगवद्गीता में भी भगवान ने यह व्यक्त किया है कि सत्व-रज-तम गुणों के अनुसार तथा तप, ध्यान आदि कर्मों के अनुसार चार वर्णों का विभाजन स्वयं मैंने ही किया है। जो साधक शूद्र कुल में पैदा होकर ब्रह्मनिष्ठ बनता है, वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त होता है। यदि कोई ब्राह्मण कुल में पैदा होकर भी ब्रह्मनिष्ट नहीं बनता, तो वह शूद्र ही माना जायेगा। अतः मनुष्य की उच्चता या नीचता का मूल कारण उसकी अनुष्ठान निष्ठा ही है, न कि आत्मतत्व ज्ञान। इस प्रकार के भेदभाव आत्मतत्त्ववेत्ताओं में नहीं है।

जो आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, ऐसे जिज्ञासुओं के लिए भक्ति ही सोपान है। भक्ति और ज्ञान एक ही है। भक्ति पूर्णतः ज्ञान में मिल जाती है। भक्ति ज्ञान के रूप में फलती है, अतः इन्हें भिन्न न मानना चाहिए। एक अवस्था में जो भक्ति कही जाती है, वही दूसरी अवस्था में ज्ञान कहा जाता है। जो पूर्वावस्था में भक्ति थी, वही उत्तरावस्था में ज्ञान होता है, जैसे जो पूर्वावस्था में ईख होता है, वही अपनी उत्तरावस्था में शक्कर बन जाता है। भक्ति

तथा ज्ञान अवस्था भेद से उत्पन्न भिन्न-भिन्न नाम मात्र हैं, अपनी परिपक्व की अवस्था में से दोनों एक स्वरूप हो जाते हैं।

निर्मल भक्ति के द्वारा जीवस्वरूप बदल कर शिवस्वरूप में परिणित हो जाता है। जीवस्वरूप ही अज्ञान है तथा शिवस्वरूप ही ज्ञान है।



सातवां संबोधन

भक्ति-ज्ञान- वैराग्य रूपी त्रिवेणी में मग्न होना मोक्ष है

जैसे किसी गन्दे सफेद कपड़े को पानी में गीला कर, साबुन लगा-कर, गरम कर तथा शिला पर पीट पीट कर धोने पर ही वह निर्मल हो पूर्ववत सफेद हो जाता है; ठीक वैसे ही अज्ञान रूपी मलीनता, जो शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूपी आत्मा में लगी है, को दूर करने, परब्रह्म का ध्यान रूपी साबुन लगा कर, निर्मल निष्ठा रूपी जल में डुबा कर, ज्ञान-ध्यान रूपी गरमी में गरमाकर तथा वैराग्य रूपी शिला पर पीट पीट कर धोने पर ही निजबोध स्वरूप ब्रह्मकार प्रकाशित होने लगता है। यदि साबुन अच्छा हो, परन्तु जल छिछला हो, तो मलिन वस्त्र में साबुन लगा कर, गरम कर तथा शिला पर पीट पीट कर धोने का सकल परिश्रम व्यर्थ है।

इसी कारण ही कुछ साधक बहुत दिनों तक ब्रह्मनिष्ठ आदि साधनाएँ करते रहने पर भी उनका मन परिशुद्ध नहीं हो पाता। यह तो साबुन का दोष नहीं है, जल का ही दोष है, अर्थात् दिनचर्या, आचार आदि निकृष्ट होने के कारण चित्त शुद्ध न हो पाता। अतः अज्ञान को ही ग्रहण कर लेता है, न कि ईश्वर-शासन व ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा मात्र से। जो कुछ भी साधनाएँ जैसे ध्यान, जप, तप, आदि की जाप, वे व्यर्थ हो जाते हैं।

ईश्वरीय शासन सत्ता सब प्रकार के लोगों पर समान रूप से लागू होती है। अर्थात् राजा हो या भिक्षु सभी लोगों पर समान रूप से लागू होती है, परन्तु शासन का तात्पर्य समझ लेने के बदले कुछ अविवेकी उस शासन पर अविश्वास कर रहे हैं? वे उसकी निन्दा करते हैं। अज्ञान में ग्रस्त ये निन्दक यह विचार करते हैं कि मैंने जो गेहूँ बोये हैं उसकी चिन्ता मैं क्यों करूँ खेत क्यों निराऊँ, उसकी रख-वाली किस लिए करूँ इत्यादि, परन्तु विवेकवन्त जो गेहूँ बोते हैं, उसी फसल को काटता है अर्थात् फसल में गेहूँ ही पाते हैं, पर अज्ञानी लोग गेहूँ के बदले व्यर्थ के घासपात ही पाते हैं। ये लोग अपने अपने अभि-मान के अनुकूल ही फल पाते हैं।

दो और दो के जोड़ने से जो संख्या 'चार' आती है, उसे विश्व के सभी निवासी समान रूप से विश्वास करते हैं; विश्वास करना ही चाहिए। 'चार' का मानने में त्रुटि नहीं है यह किसी के चाहने या न चाहने पर नहीं बनता। इसी प्रकार सर्वभूतान्तरात्मा के रूप में स्थित परमात्मा के अस्तित्व पर कोई विश्वास करे या न भी करे, परन्तु भगवान उसे नहीं तजते। जो साधक भगवान के अस्तित्व का निरूपण करना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम ज्ञानदृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। उस दृष्टि के बिना परब्रह्मकार ज्ञान नहीं हो पाता। जैसे बहुत ही दूर पर स्थित वस्तुओं को देखने में दूरदर्शिनी सहायक है, वैसे ही सर्वभूतान्तरात्मा-परमात्मा को देखने अज्ञान-तम ग्रस्त व्यक्ति के लिए ज्ञानदृष्टि सहायक है। जैसे कोई शिशु दृष्टि-विस्तार के परे जो वस्तु होती है, उस के अस्तित्व पर विश्वास ही नहीं कर पाता; ठीक वैसे ही जो लोग दृष्टि को साथ लेने में असमर्थ हैं, वे सर्वभूतात्म परमेश्वर पर विश्वास नहीं कर पाते। यदि कुछ ऐसे विचित्र व्यक्ति निकले, जो यह कह लेने का गर्व करें कि हमें न तो भगवान की चिन्ता है, न उसकी चाह ही है, हम जो चाहते हैं वह केवल सेवा ही है; तो ऐसे लोगों के सम्बन्ध में

यह बताया जा सकता है कि वे आध्यात्मिक मार्ग के निम्नकोटि के होते हैं। उन्हें आध्यात्मिक लक्ष्य के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता भी नहीं होती। आध्यात्मिक जीवन का फल ही निस्वार्थ सेवा हैं; वही निष्काम कर्म है। बिना पेड़ के फल कैसे प्राप्त होंगे?

आध्यात्मिक तथा निस्वार्थ का आधार है नित्य प्रेम जिसके मूलाधार पर जो आध्यात्मिक भवन का निर्माण होगा, क्या वह नष्ट हो सकता है? अब यह जगत ऐसे व्यक्ति से भरा पड़ा है, जो कुछ भी खरीदते या लेते उसके उपयुक्त मूल्य देने में संकोच करते, परन्तु वे जो भी देते उसके लिए अधिक से अधिक लाभ पाने की अभिलाषा करते हैं। इस प्रकार के लोग अपना सारा का सारा जीवन धन कमाने के प्रयत्न में ही व्यतीत करते हैं और उसे ही अपने जीवन का लक्ष्य मान बैठते हैं। वे रात-दिन अपने हृदय में धन देवता को प्रतिष्ठित कर पूरे मन के उसी की पूजा-आराधना करते रहते हैं, परन्तु वे सज्जन जिन का हृदय पवित्र है, वे भक्ति और प्रेम के द्वारा अपने जीवन को सफल बना लेते हैं। ऐसे लोग धन्य हैं।

इस प्रकार के सज्जनों के लिए ही निस्वार्थ सेवा साध्य होती है। अन्य लोग इस के सम्बन्ध में केवल बकवाद करते हैं और ऐसा बहाना करते हैं कि देखने वाले उसे निस्वार्थ सेवक मान बैठते हैं। निस्वार्थ सेवा में आस्था रखने वाले केवल वे ही हो सकते हैं, जो इस भावना पर पूरा विश्वास कर बैठते हैं कि ये समस्त मानव उस एक मानव के ही बच्चे हैं जो सज्जन सर्वभूतात्मा सम्बन्धित विचार को सुस्थिर बना लेते तथा उसी में पूर्ण विश्वास रखते हैं, वे ही निस्वार्थ सेवा कर पाते है, न कि वे लोग जो यह कहते हैं कि भगवान नहीं चाहिए, भक्ति नहीं चाहिए इत्यादि। ऐसे व्यक्तियों के व्यक्तित्व में अहंकार व ममकार अपनी सीमा को पार कर जाते हैं। जब तक उनका यह विचार नहीं

बदलता, तब तक अहंकार भी नष्ट न हो पाता। जब तक स्वार्थ हृदय पर अपना अधिकार जमाये बैठा रहता है। तब तक उससे किये जाने वाले कार्य, जो जैसा भी क्यों न हो, सेवा नहीं मानी जा सकती। वह बहुत ही निम्नकोटि की सेवा होती है। इस प्रकार की सेवा भी एक प्रकार का स्वार्थ ही है। जिसका पूर्ण ज्ञान होने तक अज्ञान का विनाश न हो पाता। स्वार्थ की भावना सारे संसार में फैली हुई है।

एक ही परमेश्वर है, जिसके संकल्प के अतिरिक्त इस जगत में और कुछ है ही नहीं; वही अनेक नाम-रूप धारण कर समय समय पर अवतरित होता है। जब तक इस सत्य पर प्रेम तथा विश्वास नहीं हो पाता, तब तक सेवा सेवा न होगी, भक्ति भक्ति न होगी, धर्म धर्म न होगा। इसका पूर्ण ज्ञान हो जाने पर ही सेवा, भक्ति तथा धर्म ये तीनों एक से ही दीख पड़ेंगे। वे एक ही हो जाते हैं। इस ज्ञान के बिना जो भी सेवा की जाती है, वह निस्वार्थ सेवा न होकर नाम व यश कमाने का बहाना मात्र होता है। देहाभिमान या शरीरावस्था के ज्ञान से मनुष्य जो कुछ भी करता है, वह स्वार्थ के वशीभूत होकर ही करता है। देहाभिमान की अवस्था में मनुष्य निस्वार्थ सेवा कदापि नहीं कर पाता ईश्वरीय ज्ञान से विश्व प्रेम का विकास होता है, उसके आधार पर ही मनुष्य स्वार्थ-भाव का अभिमान किये बिना, कैसे भी कार्य क्यों न हो, करता जाता है इस प्रकार के व्यक्ति की न तो स्वार्थता की भावना होती है, न निस्वार्थता की ही। उसके लिए प्रत्येक कार्य ईश्वर का ही कार्य है; ईश्वर की इच्छा है, उसी की लीला है।

दीपक ही ज्ञान है। दीपक के अभाव में सब कुछ अन्धकारमय होता है। यदि ज्ञान रूपी दीपक अपने पास न हो, तो मार्ग में लड़खड़ाना व स्थान-स्थान पर ठोकर खाना पड़ेगा तथा सारा मार्ग भयानक लगेगा। यह भय ही अज्ञान है, गहन अन्धकार ही अज्ञान है, अतः

ज्ञान भास्कर रूपी दीपक के प्रकाश में यात्रा करने का निश्चय कर लेने वाला धन्य है। तुम अपनी सफलता के द्वारा अन्य लोगों का भी उद्धार कर सकते हो।

यह ज्ञान ईश्वर-भक्ति को ही नहीं अपितु वैराग्य को भी सुशोभित करता है। साधक जैसे-जैसे ज्ञान में मग्न होता जाता है, वैसे-वैसे ही उस का विराग संस्कार भी क्षीण होता जाता है। आध्यात्मिक अभि-वृद्धि की अभिलाषा रखने वालों के लिए ये ही कारण हैं। कुछ लोग भक्ति; ज्ञान तथा वैराग्य इन तीनों को भिन्न-भिन्न मान कर द्वेष करते हैं, लेकिन इन तीनों को मिला कर साधना करनी चाहिए। ऐसे करने से ही अपने गम्य स्थान को पहचान कर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा सकता है। अतः यह निरूपित हो जाता है कि भक्ति में ज्ञान तथा वैराग्य भी विद्यमान है।

भक्ति और ज्ञान रहित वैराग्य, भक्ति और वैराग्य रहित ज्ञान अथवा वैराग्य और ज्ञान रहित भक्ति साधक को लक्ष्य पर अर्थात गम्य-स्थान पर पहुँचाने में असमर्थ है, कुछ लोगों में उनके पूर्व जन्म के पुण्य संस्कारवश भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य की प्राप्ति होती है; यदि ये लोग अपने लिए यह कहलें कि मैं भक्त हूँ, मैं वैरागी हूँ, तो यह अहंकार ही होगा। अतः जब साधक भक्ति, ज्ञान व वैराग्य रूपी त्रिवेणी में पूर्णतयः मग्न हो जाता है, तो उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार के साधन में सर्वप्रथम पवित्रता तथा चित्त की शुद्धि परमावश्यक है। इस संसार में अगणित साधक मिलते हैं, परन्तु गुण संपत्ति वाले सच्चे साधक कितने हैं ? उदाहरणार्थ इस बात को ही ले लो कि गीता का कई बार पारायण करने वाले बहुत अधिक हैं। उनमें ७०० श्लोकों को भी जो कण्ठस्थ कर चुके हैं, ऐसे लोग अधिक हैं, उनमें

गीता के अर्थ समेत घंटों तक पारायण करने वाले भी कम नहीं हैं, इन लोगों में गीता के यथार्थ सार को अपने आचरण में लाने वाला कोई एक ही होता है। ग्रामोफोन के प्लेट के जैसे पारायण करने वाले सच्चे साधक कैसे कहे जा सकते हैं ? इन्हें साधक कहना भी ठीक नहीं है, यह साधना भी नहीं है। देखना, सुनना, खाना इत्यादि क्रियायें थोड़ी देर के लिए होती हैं, जो गुणों के रूप में मालूम होती हैं। इस प्रकार मन, वाक् काम आदि के द्वारा जो ज्ञान होता है वही सच्चा ज्ञान है, अन्य अज्ञान अर्थात् अविवेक है। सच्चा ज्ञानी स्वार्थ रहित होता है। वह सर्व-भूतात्माओं में समान प्रेम रखने वाला स्वार्थ रहित तथा जो कहता वही करने वाला होता है।

अज्ञान में ग्रस्त साधक स्थूल शरीर, मन तथा मन की प्रवृत्तियों में ही रहता है वास्तव में तन-मन-इन्द्रादि परिचालक मात्र है। निजमय, नित्यमय व निर्मलमय आत्म पुरुष मन के पीछे है; अतः मनोवृत्तियों में तथा शरीर भावना में लीन मानव अनेक प्रकार के दुःख, कष्ट व नष्ट के दलदल में फंसता है। इस सारे ब्रह्माण्ड के जो कुछ भी नाम-रूप दिखाई देते हैं, वे सबके मन, मन की ही कल्पना की सृष्टि है। अतः मनोवृत्तियों को याने भावनाओं को शान्त कर उन्हें अपने वश में कर लेना चाहिए; तभी सत्य का साक्षात्कार सम्भव हो सकता है।

जब तड़ाग का जल लहरों से रहित निश्चल शान्त रहता है, तभी उसके अतल को स्पष्ट देखा जा सकता है, ठीक इसी प्रकार मन की शान्ति व निश्चलता का विनाश करने वाली अज्ञान याने मनोवृत्ति रूपी लहरों को शान्त कर दे, तो अपनी आत्मा में ही ज्ञानस्वरूपी परमात्मा का दर्शन किया जा सकता है।

तात्कालीन आनन्द की अभिलाषा में विचलित मनोवृत्तियों के संकल्प का दमन कर तथा आत्मसाक्षात्कार, शाश्वत ब्रह्मानन्द, अमृत-

तत्व, शाश्वत शांति, अनन्त ज्ञान इत्यादि का जो फलदायक है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि कदापि भूलकर भी नैतिक आनन्द की आकांक्षा न करें; यदि करे तो पुनः वही संसार का बन्धन ! इस प्रकार ज्ञान की पूर्णता के लिए वैराग्य, विवेक व मुमुक्षुत्व आवश्यक है।

यदि अशाश्वत इन्द्रियानन्द के दोषों का दत्तचित्त हो परिशीलन कर देखें, तो लौकिक दृष्टि याने मिथ्यादृष्टि नष्ट हो जाएगी। स्वर्ण को धातु गलाने की कटोरी में रख तपाने से वह मलीनता रहित हो जैसे जगमग चमक उठता है, वैसे ही वैराग्य व योगाभ्यास के द्वारा साधक ब्रह्मतेजस से चमकता हुआ ज्ञानभास्कर में लीन हो जाता है।

इस प्रकार दिव्य ज्ञान प्राप्त कर साधक समाधि की अवस्था के योग्य हो जाता है, इस साधना के साथ ही साथ मनोनिग्रह में अधिक सफलता पाता है, वह सहज ज्ञान की वृद्धि शीघ्र कर लेता है। जिसमें अविवेक की मात्रा अधिक होती है, उस साधक में आत्मज्ञान घटने लगता है। अतः सदैव ध्यान की प्रगति कर अन्तरात्मा से प्रत्यगात्मा का दर्शन करना चाहिए। समाधि से साधना का अभ्युदय निश्चित है, जिससे मोक्ष प्राप्त होता है।

अहंकार तन्मात्र आदि गुणों के अज्ञान के कारण ही उत्पन्न होता है। आत्मज्ञान का उदय ज्यों ही होता, त्यों ही अज्ञान नष्ट हो जाता है।

अहंकार तथा ममकार की हीनता आत्मज्ञान के उदय का लक्षण है। वासनारहितता, अहंकार हीनता तथा सर्वभूत समानता ही आत्मज्ञान का सार है।

आठवां संबोधन

मन को हृदय-गुफा में बांध रखना चाहिए

तुम नेत्रों के बिना देख सकते हो, कानों के बिना सुन सकते हो, जीभ के बिना बोल सकते हो, शरीर के बिना स्पर्श कर सकते हो, नाक के बिना सूंघ सकते हो, मन के बिना ही ग्रहण कर सकते हो, तथा पैरों के बिना ही चल सकते हो, तुम पवित्रमय शुद्ध अन्तकरण हो तुम परमात्मा हो । इस तथ्य को समझे बिना ही अज्ञान के अन्धकूप में पड़े हुए हो; केवल कर्मेन्द्रियों के जंजाल में पड़ दुःख भोग रहे हो ।

पंचेन्द्रिय मन से सम्बन्धित हैं । ज्ञानेन्द्रियों के कार्यों को मन पृथक-पृथक करवाता है । जब मनुष्य पुस्तक पढ़ता है, तब वह मन से आंखों के द्वारा पढ़ता है; लेकिन ज्ञानी अपनी दिव्य चक्षु के द्वारा अथवा ज्ञानदृष्टि के द्वारा देखता है । जैसे गीता में बताया गया है कि भगवान के चरण सर्वत्र है; उनके हाथ सर्वत्र हैं, उनकी आंखें व कान भी सर्वत्र हैं; अतः वह सब कुछ सुनता, सब कुछ करता है । जो इन्द्रियरहित है, वह वे सब कार्य करता है जो इन्द्रियों के द्वारा किए जाते हैं । इस रहस्य को समझ लेने में ज्ञान मार्ग बड़ा ही सहायक होता है : पूर्ण ज्ञान प्राप्त शुद्ध ज्ञानी स्वयं भगवान हो जाता है; वही यह है । दो की मिथ्या भावना के मिट जाने से एक स्वरूप हो जाता है । वह ज्ञानी यह भी अनुभव करने लगता है कि वह अगाध-अप्रमेय-परिच्छिन्न ब्रह्म मैं ही हूँ ।

जब अग्नि जलती है, तब उसका प्रकाश कहीं दूर पर रह कर भी

देखा जा सकता है। परन्तु दूर पर रहकर उसकी उष्णता का अनुभव नहीं किया जा सकता। ठीक वैसे ही यह लिखना तथा पढ़ना सरल है कि ज्ञान ऐसा है, वैसा है इत्यादि। परन्तु ब्रह्मानुभव प्राप्त होने पर ही ज्ञानानन्द का अनुभव होता है। इसके लिए निरन्तर तपस्या तथा भगवत् चिन्तन करना आवश्यक है। शुद्ध अन्तकरण को जान लेने के लिए जो-जो साधनायें की जाती हैं, वही भक्ति है, उसका लक्ष्य ही ज्ञान है।

कोई रसिक नाटककार कोई नाटक लिखना चाहता है, तो वह पुस्तक लिखने के पहले ही उसकी कल्पना में उस नाटक, जिसे वह लिखने जा रहा है, कि भावना की पूर्ति हो जाती है; पश्चात् ही पुस्तक रूप में पृथक-पृथक अंक व दृश्यों में विभाजित कर लिखता है। यदि उसकी कल्पना में नाटक का पूरा चित्रण उदय न होता, तो वह नाटक लिखने का संकल्प ही नहीं करता है न ? देखो न, प्रेक्षक मात्र दृश्य के पश्चात् दृश्य और अंक के पश्चात दृश्य और अंक देख देख नाटक की कथा समझते जाते हैं। एक बार समझ लेने पर उस नाटक का पूरा-पूरा वर्णन वह दूसरों को क्यों न सुना सकता ? ठीक इसी प्रकार परमेश्वर के लिए भूत, वर्तमान तथा भविष्यत ये तीनों काल करतल आमलवत है। तीनों काल उनकी सृष्टि के प्रारम्भ में ही जब प्रथम जागृति में आँखें खुलीं, उसी समय ज्ञात हो गया था।

यह कैसे और क्यों ? वह परमेश्वर सर्वत्र है, सर्वव्यापी है। यह उसी की योजना है, जो पहले ही बन चुकी थी। इस विश्व नाटक के अभिनेताओं तथा प्रेक्षकों की समझ में इसका तात्पर्य न आने के कारण दिग्भ्रान्त हो गए हैं। नाटक का अन्त होने पर उसका सारांश जानने बैठ जाते हैं। अतः ज्ञानसार का इतना ही अर्थ नहीं है, उसका पूर्ण अनुभव कर लेने के पश्चात ही उसकी कथा पूर्णतया ज्ञात कर दूसरों को निसंश्यतापूर्बक बताया जा सकता है। अतः ज्ञान-नाटक देखने वाले प्रेक्षकों को एक के पश्चात् एक का अर्थ बोध होता ही नहीं, एक अंक

या दृश्य को देखते ही नाटक का पूरा आशय समझ में नहीं आता; अर्थ बोध न होने के कारण साधक के मन में यह भावना पैदा होती है कि मैं जीव हूँ, मैं साधक हूँ इत्यादि। जिसके कारण उसकी मनोबुद्धि लक्षणों से मोहित हो, दुःख-सन्ताप-सन्तोष के बीच लड़खड़ाती रहती है।

जब इसका रहस्य पूर्णतयः ज्ञात हो जायगा, अर्थात नाटक खेलना एक खेल मात्र है; तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वही मैं हूँ, मैं ही वह हूँ; अतः साधक को अपनी साधना की पूर्ण सफलता प्राप्त करना चाहिए। सत्य को समझने का यत्न करना चाहिए। सत्य की खोज में साहस अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञानियों को चाहिए कि सदैव इस विषय पर सजग रहें।

प्रत्येक प्राणी के हृदय में परमात्मा जो ज्ञानस्वरूपी है, सूक्ष्म व स्थूल रूप में विद्यमान है; अतः जो ज्ञानी अपनी अन्तरात्मा में आत्म-सन्दर्शन कर लेता है, वह सदा सानन्द रहता है। उसे कदापि दुःख नहीं होता। आत्मा चींटी में, हाथी में, अण्ड में भी है। प्रपंच अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा से संव्याप्त है। साधक को चाहिए कि वह अपनी दृष्टि को प्रपंच की ओर से हटा कर अन्तरमुखी बनावे तथा अपनी आत्मा में ही स्थिर रखे; उसे यह भी जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि मनोवृत्तियाँ कहां से और कैसे उत्पन्न होती हैं ? इस प्रकार जान लेने से समस्त संकल्प नष्ट हो जाते हैं।

इस अवस्था के उपरान्त ब्रह्माकारवृत्ति निरन्तर होने लगती है। इससे वह सच्चिदानन्द स्वरूप की स्थिति में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार का ज्ञानी जैसा भी दुःख या सुख क्यों न हो, अप्रभावित रहता है। वह आत्मानन्द सागर में मग्न हो प्रपंच को ही भूल उसकी गतिविधियों के अनुकूल जीवन यापन करता है। ब्रह्माभ्यास का तात्पर्य

है निरन्तर ब्रह्म का ही प्रबोध होते रहना। उसी की प्रार्थना व यश-गान करते रहना है। वह उसी में मग्न हो जाता है इसलिए पंचकी में भी बताया गया है कि:—

'तत् चिन्तनम्, तत् कथनं अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतत एकपरत्यञ्च ज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधाः॥'

अर्थात ब्रह्म का ही चिन्तन, उसी के सम्बन्धित वार्तालाप तथा उसी का प्रबोध होना इत्यादि का पूर्ण अनुभव करना ही ज्ञानियों में ज्ञानाभ्यास माना जाता है।

यही कृष्ण ने भी गीता में उपदेश किया है:—

''मच्चिन्ता मद्गदप्राणा बोधयन्तः, परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥'

अर्थात निरन्तर मुझ में मन लगाकर और मुझ में ही प्राणों को अर्पण कर आपस में मेरे प्रभाव को जानकर तथा मेरा ही कथन करते हुए निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझमें ही निरन्तर रमण करते हैं।

अतः ब्रह्मचिन्तन इस शब्द आत्माभ्यास या ज्ञानाभ्यास का अर्थ भी व्यक्त होता है। मन वियषासक्ति से या विक्षेपशक्ति से बाहरी विषयों के प्रति भागता है। इसलिए बार-बार उसे लक्ष्य की ओर ले जाते रहना चाहिए। पहले पहल यह कष्ट सा लगेगा, परन्तु सम्यक अभ्यास के द्वारा मन को यहाँ वहाँ भागने से रोक कर ऊं के जप में लीन कर देना चाहिए। अभ्यास, साम, दान, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान इत्यादि उपायों से मन को नियन्त्रित रखना चाहिए। मन को भजन, प्रार्थना, सत्वगुण, सत्यवर्तन इत्यादि में लगाकर शनैः

ब्रह्माभ्यास के प्रति उसे मोड़ना चाहिये। आत्मचिन्तन साध्य होते मन की तुच्छ आसक्तियाँ मिटने लगती हैं। इस प्रकार के अभ्यासों के द्वारा मन को अन्य विषयवासनाओं की ओर भागने से रोक हृदय गुफा में बाँध रखा जा सकता है। इस प्रकार की साधना के फल को ही निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। इस समाधि का फल ही ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्मज्ञान का फल ही मोक्ष है याने आवागमन चक्र से विमुक्ति। साधकों के लिये इच्छाओं का त्याग करना, मन को निर्मल करना तथा तत्वज्ञान इन तीनों की सम्मिलित साधना करनी चाहिये। तभी आत्मज्ञान सुलभ हो सकता है।

इन तीनों की जो समान रूप से साधना करता है, वही आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। तीनों में से किसी एक की ही साधना कोई बहुत दिनों तक क्यों न करे, तो भी मन को अपवित्र करने वाली वासनाओं से बच नहीं पाता। क्योंकि वासनाओं के परिणाम स्वरूप ही इन्द्रियाँ भोगाभक्त हो जीव को बन्धन में जकड़ लेती है। इसलिए विवेक, आत्मचिन्तन, विचार, शम, दम, वैराग्य, त्याग इत्यादि के द्वारा ही मनोवासनाओं का नाश किया जा सकता है। जब मनोवासनाएँ कुचली जाती हैं, तभी ज्ञान का उदय होता है।

ऐसे साधकों को बहुत ही जागृत रहना चाहिए। इन्द्रियाँ किसी भी समय, किसी भी क्षण रूठ या उत्तेजित हो सकती हैं। योगी हो या त्यागी लोक व लौकिक संसर्ग से विचलित हो जाते हैं; अतः प्रपंच में भ्रमण करने वाले योगियों को चाहिए कि वे सदैव तत्वज्ञान के अभ्यास में ही दत्तचित्त रहें। इच्छाओं की वृद्धि होने न दें; समय को व्यर्थ न गँवावे। एक सुख दूसरे सुख की इच्छा ही तो है। अतः सुख के साथ ही साथ इच्छा अपनी प्रति इच्छा को लेकर उत्पन्न होती है। वह इच्छा और अनेक इच्छाओं की जननी होती है। इसलिए सुख की

इच्छाओं का त्याग अन्य समस्त त्यागों में सर्वश्रेष्ठ त्याग है। इस प्रकार का त्याग साधक को ज्ञान के धाम (स्थान) बड़ी शीघ्रता पूर्वक पहुँचा देता है।

अब प्रश्न उठता है कि ज्ञानी अथवा मुक्त पुरुष की स्थिति किस प्रकार की होती है ? सुख-दुःख हो या मन का विकार हो। निर्मल चित्तवाले उस से प्रभावित नहीं होते। मनोनाश हो जाने पर उसका चिह्न सुख-दुःख ज्ञानी का स्पशर्ण कैसे कर सकते हैं ? जब मन देह के साथ एकाकार हो जाता है, तभी बाधाओं का अनुभव हुआ करता है।

जब शराब का नशा चढ़ जाता है, तब क्या कष्ट का अनुभव होता है ? यह कब तक ? जब तक मन नशे के प्रभाव से देह से पृथक रहता है। इसी प्रकार ज्ञानी भी अपने मन को आत्मा में लीन कर देता है। मानसिक अभ्यास से मन को प्रशान्तित किया जाता है। जो ऐसा कर लेता है, वह ज्ञानी अपनी आत्मा में ही आनन्दित रहने में समर्थ हो जाता है। किसी भी प्रकार की बाहरी आनन्द की इच्छा नहीं होती। उस की सभी इच्छायें सन्तृप्त हो जाती है। आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करते रहने के कारण बाहरी आनन्द के अनुभव की इच्छा उस में शेष नहीं रहती।

ज्ञानी अपने सत्संकल्प तथा सत्काम से कुछ सिद्धियाँ भी प्राप्त करता है; जिनसे, वह जो भी चाहता है, उसे प्राप्त कर लेता है। अतः ज्ञानी की महिमा व सामर्थ्य का न तो वर्णन किया जा सकता है, न कल्पना ही।

भगवत् महिमा जैसे असाध्य तथा वर्णनातीत है, वैसे ही उस की भी महिमा है, जो भगवान को समझ कर उसी में लीन हो गया

है। वह स्वयं ब्रह्म ही बन जाता है, इसीलिए श्रुतियाँ घोषित करती हैं—

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति,
ब्रह्मविद् परं आप्नोति ॥'

अर्थात् ब्रह्म को जो जान लेता है, वह उत्कृष्ट हो जाता है। अतः जो व्यक्ति उस दृष्टि से देखता है कि वास्तव में ही जगत असत्य है तथा ब्रह्म ही सत्य है, उसकी समस्त वासनाएं हवा हो जाती हैं। अज्ञान एक दम नष्ट हो जाता है। मन ही ज्ञानरूपी रत्न का चोर है। अतः उस मनरूपी चोर को दण्ड दे उस रत्न को प्राप्त किया जा सकता है तथा उस से ब्रह्म स्थान को अलंकृत किया जा सकता है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति जिन महात्माओं ने की है, उनकी पूजा अवश्य करनी चाहिए। वे अत्यन्त पवित्र होते हैं, ब्रह्म को संप्राप्त शाश्वत है, द्वन्द रहित तथा स्वतन्त्र है। जगत में मिलने वाला कैसा भी महापुरुष क्यों न हो ? कैसी भी तपस्या क्यों न हो ? अगाध ध्यान के द्वारा भी जो अलभ्य है, जो स्वराज्य है, जो अगम्यगम्य है, वह यही है।

यही ब्रह्म रहस्य है उपनिषदों व शास्त्रों का रहस्य है। इस रहस्य को जान लेना ही ज्ञानी की अपनी साधना का फल है, ज्ञानी का परम लक्ष्य है, वही मोक्ष है तथा जन्म की सार्थकता है।

सत्यासत्य को ज्ञान रूपी खड़ग से काट कर अलग-अलग करना चाहिए। जिस ज्ञान से जगत का त्याग किया जाता है, वह ज्ञान ही जगत को दूर कर जगदीश्वर के पास ले जाता है। वह निवास ही नित्यानन्द परमानन्द है; ब्रह्मानन्द है।



नौवां संबोधन

माया विद्या की जननी है।

अद्वैत ब्रह्म में आवरण व विक्षेप शक्ति के द्वारा बड़ी चालाकी से जीव, ईश्वर तथा जगत की भ्रान्ति उत्पन्न करना ही माया का कर्म है। प्रश्न उठ सकता है कि वह कैसे उत्पन्न होती है? अव्यक्त रूप में स्थित शक्ति जब मन के रूप में व्यक्त होती है, तब जगत रूपी वृक्ष के अंकुशों में स्थित मनोवासनाएँ पनपने लगती हैं। इसलिए मनोविलास में स्थित संकल्पों तथा वासनाओं से जगत स्वप्न की भांति भाषित होता है। उसके अन्तर्गत जीव और ईश्वर को जगत अपने में अन्तर्भूत कर लेता है। जगत में ही मनोविलास कल्पित होता है।

स्वप्न में दृष्टिगत होने वाला वह सारा जगत मनोविलास ही है उस स्वप्न में जीव तथा ईश्वर उसके अन्तर्भूत होते हैं, अतः मनोविलास की शान्ति का उपज मात्र है अर्थात् जीव तथा ईश्वर मनोविलास के वशीभूत हैं तथा वे जगत में अविभाज्य हैं, अतः वे भी मनोविकार की ही सृष्टि रूप हैं जैसे स्वप्न में भासित होने वाले भौतिक पदार्थ हैं।

मान लें कि जीव, ईश्वर तथा जगत चित्र के रूप में चित्रित किये गये हैं; उस चित्रमय जगत में, अंग रूप में जीव तथा ईश्वर उस के अन्तर्भूत हैं। एक ही प्रकार के वर्णों से चित्रित किये जाने पर भी, वे तीनों भिन्न-भिन्न वस्तुओं के जैसे दिखाई देते हैं। उसी प्रकार मनोविलास की

कल्पना में जगत अनेक स्थानों को अपने अन्तर्भूत कर लिया है। जीव और ईश्वर मनोविलास की सृष्टि ही हैं। इसमें अल्प भी सन्देह नहीं है।

श्रुति में बताया गया है कि जीव और ईश्वर का भ्रम उत्पन्न करने वाली जो हैं, वही माया है। वशिष्ट स्मृति में बताया गया है कि मनोवासनाएँ ही इन्द्रजाल के चमत्कारों के जैसे वह-मैं,--वह-यह, मेरा-उसका आदि का नृत्य करती हैं।

इस स्मृति में जो 'सोहमिदम्' वाला मन्त्र आता है, वह जीव, ईश्वर तथा जगत का वाचक शब्द है। 'स:' का अर्थ वह, जो परोक्षत्व आदि गुण युक्त ईश्वर का वाचक है; 'अहं' का अर्थ है मैं, अर्थात् अभिमान पूर्ण कर्तृत्व आदि गुण युक्त जीव, तथा 'इदं' का अर्थ है यह, जो समस्त भोग्य भौतिक जगत का वाचक है। अत: उस श्रुति-स्मृति की उक्तियों के अनुभव के द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि जीव, ईश्वर तथा जगत मनोविलास की मिथ्या सृष्टि है। जागृत व स्वप्न की अवस्था में मनोवासनाएँ जागृत याने सक्रिय रहते हैं इसी कारण ही जीव, ईश्वर तथा जगत सत्य से भासित होते हैं, परन्तु सुषुप्ति अथवा सुश्री की अवस्था में मन निष्क्रिय हो जाता है; अत: वे तीनों भासित नहीं होते ! यह सब लोगों का अनुभव ही है न ? जब ज्ञान के द्वारा समस्त वासनाओं की निवृत्ति का निर्मूलन हो जाता है, तव जीव, ईश्वर तथा जगत की भी निवृत्ति हो जाती है। पूर्णतय: अद्वैत ज्ञान प्राप्त महात्मा लोग जीव, ईश्वर तथा जगत इन तीनों को छोड़ अद्वैत का अनुभव करते हैं।

वह ज्ञानी माया रहित हो जाता है जो मन की गति-विधियों पर ध्यान दे उस पर विचार करता है। माया उन लोगों का विनाश कर देती है, जो अविचारी होते हैं, जिनमें अन्तर पहचानने की बुद्धि की कमी

होती है। अतः विद्या ही माया विनाशिनी है। जैसे ज्वर आदि रोग कर्म के फलस्वरूप होता है। असंयमित जीवन तथा अपथ्य भोजन के कारण रोग समृद्ध होता है तथा उसकी वृद्धि में रोग की वृद्धि होती है। अविचार वृत्ति की समृद्धि के कारण ही रस्सी, जिसके स्वरूप की विस्मृति हो, उसमें सर्प की भ्रान्ति होती है। माया अकारण हो स्वतः-सिद्ध हो अनाथ रहती है, वह आत्मस्वरूप का विचार न कर अविचार उत्पन्न करती हुई तथा अपने व्यवहार में पलती हुई गाढ़ अन्धकार के रूप में अपनी वृद्धि करती जाती है।

इस प्रकार अविचार से उत्पन्न गाढ़ अन्धकार को दूर करने के लिए विचार (ज्ञान) रूपी ज्योति को जगाना चाहिए; जिससे जीव, ईश्वर तथा जगत की भ्रान्ति मिट जाती है। विचार (ज्ञान) होने के पहले रस्सी में सर्प की जो भ्रान्ति होती थी, वह विचार (ज्ञान) के होते ही मिथ्या भ्रान्ति दूर हो जाती है तथा उसके स्थान पर रस्सी मात्र रह जाती है। विचार (ज्ञान) होने के पहले जो माया दृष्टिगत थी तथा माया की लीला में जीव, ईश्वर तथा जगत की भ्रान्ति थी, वह विचार (ज्ञान) होने पर नष्ट हो जाती है। वहाँ केवल परब्रह्म रह जाता है; केवल परब्रह्म ही शेष रहता है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि एक ही वस्तु कैसे दो रूपों में दीख पड़ेगी? अद्वैत सम्मत ब्रह्म एक ही तो है? विचार (ज्ञान) होने के पूर्व ब्रह्म जगत के रूप में दिखाई दिया; विचार होने पर वही ब्रह्म अपने स्वाभाविक रूप में दिखाई देता है।

उदाहरणार्थ घड़े को ही ले लें। मिट्टी का विचार होने के पूर्व घड़ा घड़े के रूप में ही दीख पड़ता है, परन्तु विचार होने पर घड़े का घड़ापन नहीं रहता; केवल घड़े की मिट्टी ही उस समय प्रधान होती है।

विचार होने के पूर्व जो कनक (माला), मुकुट, कुण्डल, आदि आभूषण के रूप में देखे जाते हैं, वे वास्तव में कनक (स्वर्ण) ही तो है। विचार होने पर स्वर्ण का ही भास होता है। ठीक इसी प्रकार विचार होने पर एक, द्वैत, सजातीय, विजातीय, स्वगत आदि भेदों से रहित एक ब्रह्म-मात्र ही तीनों कालों में रहने वाला शाश्वत वस्तु होता है, जिसमें माया या जगत की भ्रान्ति कदापि नहीं होती। ऐसी बुद्धि ही विद्या है। यह विद्या ही अविद्या का विनाश करने वाली है। शशश्रृंग (शश का सींग) शब्द नाम मात्र है। वास्तव में स्वरूप में नहीं है अर्थात् शश का श्रृंग नहीं होता। इसी प्रकार ही माया के सम्बन्ध में केवल बहुत कुछ कहा जाता है, परन्तु उसका स्वरूप नहीं है। इस प्रकार के विचार के द्वारा तथा ज्ञान सम्मत तत्वज्ञान के द्वारा शशश्रृंग की भाँति माया को भी मिथ्या समझा जाता है। ज्ञान के द्वारा निष्फल तथा शून्य हो जाना ही माया का परिणाम है, केवल विद्या हीन अज्ञानी लोग माया को सत्य मानते हैं। विचारवन्त ज्ञानी लोग इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। उनका कहना है कि माया शशश्रृंग के समान है।

इस प्रकार माया के सम्बन्ध में ज्ञानियों के अपने अपने दृष्टिकोण होने के कारण उसके तीन प्रकार के अभिमत प्रचलित हैं। जब किसी विचार शक्ति रहित बालक के सामने यह कह दें कि देखो वहाँ भूत बैठा है, तो बालक केवल सुनते ही भयभीत हो थर थर कांपने लग जाता है, क्योंकि वह भूत-प्रेतों की बातों को सत्य मानता है। इसी प्रकार विचार रहित अज्ञानी लोग माया के मोह में परवश हो उन नश्वर भौतिक पदार्थों को ही सत्य मान बैठता है।

विचारवन्त ज्ञानी शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा यह समझ लेते हैं कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है। ब्रह्म तथा जगत इन दोनों में भेदभाव

उत्पन्न करने वाली माया ही है; जिसके स्वभाव का निश्चय करने में असमर्थ वे लोग यह कह देते हैं कि माया अनिर्वचनीय है।

खूब सोच विचार कर सम्यक ज्ञान प्राप्त शुद्धज्ञानी विद्या के द्वारा माया को जला कर भस्म कर देते हैं, जैसे मरण प्राप्त माता का पुत्र अग्निसंस्कार के द्वारा माता को जला कर भस्म कर देता है। इनके लिए त्रिकाल भी मायातीत है अर्थात् वे तीनों कालों में माया रहित हो जाते हैं।

विचार के द्वारा जब माया साफ-साफ दिखाई देने लगती है, तब वह विद्या के रूप में परिणत होने लगती है। माया में ही ज्ञान उत्पन्न होता है। यह भी कहा जाता है कि माया का पुत्र ही विद्या है; अविचार के बल जीवित रहने वाली माया का अन्तकाल विचार के द्वारा आता है। अन्त काल में अपने प्राण नाशार्थ जिस पुत्र को जन्म देती है, उस अपने प्राण नाशक विद्या रूपी पुत्र से ही मृत्यु को प्राप्त होती है। पुत्र को जन्म देते ही, वह विद्या से जल कर भस्म हो जाती है।

वृक्षों में भी यह गुण विद्यमान है। वृक्ष आपस में घर्षित होते हैं, जिससे उनके अन्दर से जो अग्नि उत्पन्न होती है, वही अग्नि उन वृक्षों को जलाकर भस्म कर देती है। इसी प्रकार माया से उत्पन्न विद्या माया को ही जला देती है। इस प्रकार विद्या के द्वारा जलकर भस्म हो जाने पर माया शशशृंग की भाँति नाम मात्र शेष रहती है, अतः ज्ञानी लोग इसे 'अपद' कहते हैं।

इतना ही नहीं, जो भी भौतिक पदार्थ हो उसे माया या अविद्या की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार विद्या के द्वारा जलाए जाने पर जो भी व्यर्थ, निष्फल, शून्य असत्य भासित हो, तो उसे माया की ही उपज माननी चाहिए। विद्या को पैदा करने के कारण माया भी सत्य तथा

सफल है। अविद्या के परिणाम स्वरूप उत्पन्न विद्या को यदि सत्य मान लिया जाए, तो क्या माया को भी सत्य मानना चाहिए ? विद्या से अविद्या का विनाश ज्यों ही होता, त्यों ही विद्या का भी विनाश हो जाता है।

जैसे वृक्षों के घर्षण से निकली अग्नि वृक्षों को जलाकर भस्म कर देने पर स्वयं भी मिट जाती, है न ? जैसे 'कतक रेण्ड' जल के कल्मष्य को मिटाते हुए स्वयं भी मिट जाती है, वैसे ही विद्या भी अविद्या का नाश जिस क्षण करती, उसी क्षण स्वयं भी नष्ट हो जाती है। अतः व्यर्थ व शून्य हो जाने का परिणाम वाला ही ज्ञान है।



दसवां संबोधन

सच्चिदानन्दमय आत्मा निर्विकार है।

वेदान्त के श्रवण से प्राप्त ज्ञान को ही अपरोक्ष न समझना चाहिए। अभानावरण के कारण यदि सप्रत्यक्ष जानने में त्रुटि हो, तो वह कैसे अपरोक्ष हो सकता है। नहीं, वह परोक्ष ही है। श्रवण से सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूप जाना जा सकता है, परन्तु पंचकोशों के याने अन्नमय-कोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश तथा आनन्दमयकोश के साक्षी स्वरूप ब्रह्म को सप्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता।

चतुर्भुज वाले शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णु के रूप को शास्त्र-ग्रन्थों के द्वारा जान सकते हो तथा उनका ध्यान भी कर सकते हो, परन्तु जब तक अपनी आँखों से साक्षात देख नहीं पाते, तब तक शास्त्र प्रतिपादित यह ज्ञान परोक्ष नहीं हो सकता। अतः श्रवण जन्म ज्ञान भी अपरोक्ष ज्ञान नहीं है।

शास्त्रों के अध्ययन से जो यह ज्ञान प्राप्त होता है कि विष्णु का रूप मानव-रूप से भिन्न है, वह परोक्षज्ञान ही है। अहंब्रह्मास्मि के तात्पर्य से अपरिचित कोई व्यक्ति तत्वमसि आदि मन्त्र का जो शास्त्रों से प्रतिपादित मन्त्र हैं, केवल श्रवण करके ही इसका याने मैं ब्रह्म हूँ, का प्रत्यक्ष अनुभव क्या कर पाता है ? नहीं, कभी कर नहीं पाता। अपने से भिन्न स्वर्ग आदि की जो भी सम्भावना शास्त्र-ग्रन्थों के द्वारा परोक्ष ज्ञान के रूप में होती है, उस पर सन्देह होना स्वाभाविक ही है; परन्तु

ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए। क्योंकि शास्त्रों में अहंब्रह्मास्मि, तत्वमसि आदि जो मन्त्र दिये गये हैं। इस पर सन्देह नहीं किया जाता। अब शास्त्रों में जो बताया गया है कि केवल श्रवण करने से ही अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, वही इसका प्रमाण है।

साधक जो कुछ भी श्रवण अथवा प्रसंग के द्वारा जान लेता है, उनका श्रद्धापूर्वक विचार कर आत्मस्वरूप को परोक्ष रूप में जान लेता है तथा अपरोक्ष रूप में उसे समझने के लिए साधनारत हो मनन करता है। आत्म सर्वगत, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्गत, आकाशातीत तथा चित्ताकाश-स्वरूप है; अतः आत्मा को परम कहा गया है। श्रुतियों में आत्मा के सम्बन्ध में बताया गया है कि असंगोह्ययं पुरुषः अर्थात् यह पुरुष संग रहित है। आत्मा असंग ही नहीं अच्छुत है, सर्वातीत है। अतः यह सन्देह नहीं करना कि आत्मा भिन्न है अथवा परिच्छिन्न है। आत्मा त्रिविध परिच्छिन्न याने स्थान परिच्छिन्न, कालपरिच्छिन्न तथा वस्तु-परिच्छिन्न रहित पूर्ण है। क्योंकि आत्मा के सम्बन्ध में यह बताया नहीं जा सकता है कि आत्मा अमुक स्थान में विद्यमान है, और अमुक स्थान में नहीं है : आत्मा सर्वव्यापी है, अतः समस्त स्थानों में भी संव्याप्त है, अतः आत्मा स्थान परिच्छिन्न रहित है। यह भी बताया नहीं जा सकता कि आत्मा किसी एक समय विद्यमान होती है और अन्य समय नहीं होती, आत्मा नित्य निरन्तर रहने वाली है, अतः वह काल परिच्छिन्न रहित है। आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; वह सर्वात्मा है, आत्मा सब कुछ है; अतः आत्मा वस्तु परिच्छिन्न रहित है। इस प्रकार त्रिविध परिच्छिन्न रहित आत्मा अपने में परिपूर्ण है। इस तथ्य का पूर्णज्ञान प्राप्त करना ही सम्पूर्ण ज्ञान है यही सत्य है।

अब कुछ लोगों के मन में यह सन्देह हो सकता है कि आकाश के जैसे ही आत्मा सर्वत्र संव्याप्त है, परन्तु उसमें विकार क्यों नहीं होता ?

विकार छः माने जाते हैं, जिन्हें षड्भाव विकार कहा जाता है, वे हैं अस्ति, जायते, बर्धते, परिणयते, अपक्षयते तथा नश्यते अर्थात होना, पैदा होना, बढ़ना, बदलना, क्षीणना तथा नष्ट होना। यह षड्भाव विकार केवल आकाश आदि भूतों में ही होते हैं, न कि सर्व साक्षिभूत आत्मा में; क्योंकि आत्मा निर्विकार है जब यह कहा जाता है आत्मा निर्विकार है, तो इसका तात्पर्य यह होता है कि कुछ ऐसी भी वस्तुएँ हैं जिनका विकार होता है। इस पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि आत्मा के लिए अद्वैत अर्थात दो वस्तुएँ नहीं है का प्रयोग कैसे हो सकता है ? कुछ में विकार होता है, कुछ में नहीं, ऐसी बात नहीं है; जब आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, तब अद्वैत का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा सद्वय नहीं, अद्वय ही है। कोई भी वस्तु आत्मैतर याने आत्मा से भिन्न नहीं है; अतः सद्वैत का सन्देह ही नहीं होना चाहिए। यह कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ? आत्मा सबका कारण है, अतः आत्मा से भिन्न वस्तु की भावना नहीं होती। कार्य-कारण में भेद नहीं होता। कारण के बिना कार्य नहीं तथा कार्य के बिना कारण नहीं होता। कुछ लोग शंका करते हैं कि आत्मा कैसे सर्व कारण याने सबका कारण हो सकती है ? आत्मा सर्वदृष्टा याने सबको देखने वाला तथा सबको समझ लेने वाला है, इसी कारण आत्मा सर्वकारण होता। इसमें यह जान लेना चाहिए कि जगत के समस्त मिथ्या पदार्थों को जो देखता है वही कारण है।

सीपी में रजत की भ्रान्ति उसके दृष्टा के ही उपाधान कारण से होती है, स्वप्न-भ्रम की दृष्टि भी उसका उपाधान कारण ही है। इसी प्रकार जागृतावस्था में जगत भ्रान्तियों का आत्मा ही, जो दृष्टा है, उपाधान कारण है; है न ?

समस्त जगत की भ्रान्तियों का मूल कारण आत्मा नहीं है।

श्रुतियों में बताया गया है कि सारे जगत की ये भ्रान्तियाँ कलय काल तक ही, द्वैत भाव वाली आत्मा में रज्जु-सर्प की रीति से माया के द्वारा, नाम-रूप की सृष्टि करती रहती हैं। जब आत्मा किसी प्रिय वस्तु पर समाकृष्ट होती है, तो उसका वह आकर्षक उस वस्तु से बदलकर, उसमें भी अधिक आकर्षण युक्त वस्तु पर और अधिक होने लगता है, वह आकर्षण अशाश्वत है। वह प्रेम मोह जनित है न कि स्वाभाविक है। देखो न, सार रहित सूखी हड्डी के टुकड़े को कुत्ता कितने चाव से चबाता है। वह मोहवश अपनी जीभ से निकलने वाले रक्त को ही उस हड्डी का सार समझ प्रीति पूर्वक चबाता है। यदि उसकी दृष्टि दूसरी एक हड्डी के टुकड़े पर पड़े, तो इस हड्डी को छोड़ उस हड्डी को उठा लेता तथा परम प्रीति पूर्वक चबाने लगता है। इसी प्रकार माया से उत्पन्न दुःख का स्वरूप भी है। स्वभावतः अन्य वस्तुओं में उत्पन्न मोह के कारण आत्मा अपने स्वाभाविक प्रियत्व का आरोपन कर उनको ही अतीव प्रेमपूर्वक देखती है। परन्तु वे वस्तुएं वास्तव में वैसे नहीं होती; वे भी दुःख देनेवाली ही होती हैं। इस प्रकार की मोह जनित विषय नीति अस्थिर है, जो सातिशय है न कि निरातिशंय।

आत्म प्रीति कभी परिवर्तित नहीं होती। देह, इंद्रिय आदि भले नष्ट हो जाए, परन्तु आत्मा नष्ट नहीं होती। वह सदैव अपने में प्रीति-पूर्वक रहने के कारण निरातिशय है। सब लोग अपनी आत्मा में प्रीति रखते हैं; क्योंकि आत्मा परमानन्द स्वरूपी हैं, इसलिए यह आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूपमय कही जाती है।

क्या सत्, चित् तथा आनन्द ये तीनों आत्मा के स्वभाव हैं ? क्या गुण हैं? इस प्रकार की शंकाएँ स्वाभाविक हैं। कोहित, उष्ण तथा प्रकाश ये तीनों अग्नि के स्वभाव हैं, न कि उसके गुण। इसी प्रकार सत्, चित् तथा आनन्द ये तीनों आत्मा के स्वभाव हैं, न कि गुण। सत्, चित् तथा

आनन्दमय क्या तीन हैं ? लोहित, उष्ण तथा प्रकाश ये तीनों स्वभाव वाली अग्नि एक ही तो है, तीन कैसे हो सकती हैं ? रस शीत तथा द्रव ये तीनों स्वभाव वाला जल एक ही है न ? सच्चिदानन्द स्वभाव युक्त आत्मा भी एक ही है, अनेक नहीं। आत्मा एक ही है जो सब में विद्यमान हैं सब में जानी जाती है और सर्वगत है।

पंचकोशों की साक्षिभूत आत्मा को कैसे जाना जा सकता है ? सकल भूत व भौतिक में स्थित वस्तुओं को केवल आत्मा ही जानती है, न कि अन्य कोई। यह स्मरण होना चाहिए कि आत्मा को छोड़ अन्य सब कुछ जड़ होते हैं। घट के भीतर व्याप्त आकाश को क्या घट जानता है ? इसका ज्ञान घट को न होने के कारण, क्या घट में व्याप्त आकाश नहीं रहता ? परन्तु आत्मा इन्द्रियों की सहायता में जड़ पदार्थों को जानती है। इन्द्रिय के द्वारा देह, गृह, क्षेत्र, देश आदि को अपने ज्ञान के द्वारा जैसे जाना जाता है, वैसे ही अप्रत्यक्ष रूप में स्वर्ग आदि जड़ों को भी अपने ज्ञान से जाना जाता है, परन्तु प्रत्यक्ष देखा नहीं जाता।

बन्ध्या-पुत्र के समान ग्राम, पुर, देह आदि भी मिथ्या हैं, जो मनोवासना की सृष्टि के कारण सत्य सा भासित होता है।

स्वप्न से जो अनेक दृश्य देखे जाते हैं, वे सत्य नहीं हैं। स्वप्न में देखे जाने वाले पदार्थ मन की अपनी सृष्टि मात्र है, जिसे स्वप्नदृष्टा भी साफ़ साफ़ समझ लेता है। इस प्रकार जागृतावस्था में जो कुछ भी अनुभव किये जाते हैं, वे मनोकल्पना का ही उपजमात्र है। स्वप्नदृष्टा के रूप में जो रहता है वही अपनी जागृतावस्था में जो भी दृश्य या रूप देखता है, उनको दो प्रकार की मनोकल्पना के द्वारा उनको अपना ही समझकर देखता है। स्वर्ग आदि का अनुभव न होने पर भी संसार में लोग स्वर्ग से सम्बन्धित बातचीत करते हैं न ? अतः इस प्रकार यथार्थ सत्य को समझ लेना ही ज्ञानियों का अपना लक्ष्य होना चाहिए।



ग्यारहवां संबोधन

जीव ब्रह्म ही है।

संसार में कुछ लोग अपने आप यह कह लेते हैं कि मैं साक्षात्कार का अनुभव कर रहा हूँ। इसे कैसे सत्य माना जा सकता है? 'अहं-ब्रह्मास्मि' इस मंत्र के अनुसार जो यह अनुभव करता है कि मैं ब्रह्म हूँ, उसमें 'मैं' कह लेने वाला जो जीव है वह विकारी है। अतः विकारयुक्त अहंकारी यह कैसे समझ सकता है कि मैं ब्रह्म हूँ? समझ नहीं सकता। जैसे कोई स्वयं राजा का अनुभव नहीं कर पाता, वैसे ही विकारी जीव यह अनुभव नहीं कर सकता कि मैं ब्रह्म हूँ।

यदि यह विचार करे कि वह जीव कौन है, जो अपने लिए 'मैं' का प्रयोग करता है, तो यह समझ जाओगे कि सर्वसाक्षिमय व निर्विकारमय जो आत्मा है वह अज्ञान के कारण अपने स्वरूप को भूल अहंकार व यमकार के विकारवश अपने को जीव समझ बैठी है। जब वही विचार में मग्न हो अपना परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, तब वह अपने असली तथ्य को पहचान लेती है कि मैं विकारी नहीं हूँ। मैं तो विकार तथा अहंकार साक्षी (दृष्टा) हूँ। तदनन्तर उसे यह जान लेने में कोई आपदा उपस्थित नहीं होती कि मैं निर्विकारी साक्षी हूं, अहं ब्रह्मास्मि। यह कैसे कहा जा सकता है कि वह 'अहं ब्रह्मास्मि' को समझने वाला साक्षी ही है? 'अहं ब्रह्मास्मि' यह समझने वाला वास्तव में कौन है? क्या साक्षी (दृष्टा) ही समझता है? अथवा जीव, जो अपने लिए 'मैं' का प्रयोग करता है और विकारी है?

यदि यह कहे कि साक्षी ही समझता है, तो साक्षी, निर्विकारी तथा 'मैं' का प्रयोग करने वाले अहंकारी जीव का दृष्टा है, 'मैं' कहने का अहंकार कैसे कर सकता है ? यदि कर सकता है अथवा अहंकार में 'मैं' का प्रयोग करे, तो उसमें साक्षित्व कैसे रह सकता है तब वह भी विकारी ही माना जाएगा न ? अतः उसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' की कोई कल्पना नहीं हो सकती, जिसमें वह समझ नहीं पा सकता कि मैं ब्रह्म हूँ। अतः यह कहने में कोई तथ्य नहीं रहेगा कि साक्षी ही 'अहं ब्रह्मास्मि' को समझता है।

तब प्रश्न उठता है कि उसे कौन समझता है ? तो यहाँ यही कहना पड़ेगा कि 'मैं' कह लेने वाला जीव ही समझता है। इसका कारण यह होता है कि प्रपंच की निवृत्ति के निमित्त किसी अज्ञानी को ही 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञानाभ्यास करना आवश्यक होता है; साक्षी में अज्ञान नही होता, अतः उसमें ज्ञान भी नहीं होता। अज्ञानी को ही ज्ञान की आवश्यकता होती, है न ? ज्ञान और अज्ञान जीव में ही होते हैं, न कि साक्षी में। यह तथ्य केवल अनुभव के आधार पर ही सिद्ध होता है, क्योंकि साक्षीस्वरूप आत्मा ज्ञान तथा अज्ञान का अधिष्ठान और ज्ञानाज्ञान रहित है जीव ज्ञान तथा अज्ञान ग्रस्त है।

कुछ लोग यह संशय कर सकते हैं कि अपने लिए जो 'मैं' का प्रयोग करता है, उस जीव को क्या साक्षीस्वरूप आत्मा जानती है ? यह भी पूछा जा सकता है कि वह साक्षी कौन है ? जीव में अज्ञान का अनुभव होता है तथा वेदान्तश्रवण के द्वारा परोक्षरूप में यह जान लिया जाता है कि किसी साक्षी का होना आवश्यक है; वह साक्षी आत्मा ही हो सकती है। तदनन्तर आत्मविचार में मग्न हो, उसके द्वारा अभानावरण का नाश कर आत्म साक्षात्कार किया जा सकता है।

ज्ञान का अनुभव केवल जीव को ही होता है जो अज्ञान ग्रस्त है

तथा साक्षी नहीं है। ज्ञान और अज्ञान का अनुभव करने वाला जीव ही है, न कि साक्षी; अतः जीव ही 'अहं ब्रह्मास्मि' को समझता है, न कि आत्मा जो साक्षी है। उसे समझ लेने पर 'मैं' रूपी अहंकार लुप्त हो जाता है। जिससे जीव स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

उसे किसने देखा ? जो दिखाई पड़ता है वह क्या है ? वह दृश्य क्या है। यह तीनों प्रश्नों 'मैंने देखा' इस एक वाक्य में ही विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार 'मैंने देखा' यह कहने मैं अर्थ नहीं है, तथ्य भी नहीं है; अतः 'मैंने जाना' यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवल एक बार के दर्शन से विकारी जीव निर्विकारी साक्षी नहीं बन सकता। यदि कोई दरिद्र किसी राजा का दर्शन मात्र कर ले, तो क्या वह राजा हो सकता है ? वैसे ही साक्षी को केवल एक बार देख लेना, तो तुरन्त जीव साक्षी नहीं बन सकता ? पहले स्वयं साक्षी बने बिना विकारी जीव यह समझ ही नहीं सकता कि 'अहं ब्रह्मास्मि' क्या चीज है। अपने अधिष्ठान साक्षी के समझने में असमर्थ जीव विचार-चिन्तन के द्वारा उसे समझ कर कैसे यह घोषित करता है कि मैं सर्वसाक्षी ब्रह्म हूँ ? किसी के राजा बन जाने पर दूसरे उसे राजा मान लेते हैं, न कि राजा ही यह घोषित करता कि मैं ही राजा हूँ। यदि ऐसा करे, तो उसकी मूर्खता ही व्यक्त होगी।

निर्विकारी साक्षी के परिणत हुए बिना अपनी विकारी की अवस्था में ही वह जान लेना कि मैं ही साक्षी हूँ, दुस्तर है, दुर्लभ है और असम्भव है। साक्षी बनने की इच्छा रखने वाले जीव को चाहिए कि सबसे पहले सर्वमय परिपूर्ण ब्रह्म को पहचानने का प्रयत्न करे। किले के भीतर रहने वाले राजा को केवल देख लेने से कोई भिखारी साम्राज्यत्व प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार सर्वसाक्षिमय, आकाश सदृश अत्यन्त शून्य, ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटि, व्यवहार में न आने वाला, नित्य, शुद्ध,

बुद्ध तथा शुक्त जो है उस परमानन्द स्वरूपी साक्षी को केवल पहचान लेने से जीव साक्षी नहीं बन सकता। उसे स्वयं साक्षी बनना चाहिए। जब तक जीव जीव ही बन कर रहेगा, तब तक वह परिपूर्ण ब्रह्म, जो साक्षी है बन नहीं सकता। अर्थात् जब तक जीव स्वयं साक्षी नहीं बन पाता तब तक अपने परिपूर्ण ब्रह्म के स्वरूप को समझ नहीं सकता।

जीव में जब तक 'मैं' की भावना विद्यमान होती है, तब तक वह साक्षी नहीं बन सकता। जो साक्षी सर्वभूतान्तरात्मा है, सर्व व्यापक है, सच्चिदानन्द स्वरूप है, अपर रहित है व सब कुछ है उस परिपूर्ण को 'मैं' कहना अर्थहीन है।

इस प्रकार जीव को साक्षात्कार कहना ही अनुचित है। श्रुतियों में विशेषतयः यह नहीं बताया गया है कि अहं ब्रह्मास्मि याने जीव-ब्रह्म सामानाधिकरण्य है अर्थात् श्रुतियों में जीव और ब्रह्म को समान स्वभाव वाले नहीं बताया गया है। मुख्य सामानाधिकरण्य यही है कि एक घट के भीतर का आकाश ही दूसरे घट के भीतर का आकाश है। घट के भीतर जो आकाश है वही आकाश है वही आकाश मठ (कढ़ाई) के भीतर भी है। मठाकाश ही सर्वत्र संव्याप्त आकाश है। घटाकाश ही महाकाश है, इसका ज्ञान ही मुख्य सामानाधिकरण्य है। एक स्थान की हवा ही समस्त स्थानों की हवा है। एक स्थान का सूर्यप्रकाश ही समस्त स्थानों का सूर्यप्रकाश है। एक मूर्ति में विद्यमान ईश्वर ही समस्त मूर्तियों में विद्यमान है। इस प्रकार का परिचय ही मुख्य सामानाधिकरण्य है। इसी प्रकार देह में जो साक्षी है वह समस्त देहों में रहने वाले साक्षी ब्रह्म है, यह जानना ही मुख्य सामानाधिकरण्य है।

इस तर्क के अनुसार श्रुतियों में 'अहं ब्रह्मास्मि' के तत्त्व के आधार पर यह मुख्य सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं किया गया है कि अहं ब्रह्मास्मि

कर लेने वाला जीव ब्रह्म ही है, परन्तु उनमें बाधसामानाधिकरण्य की ही पुष्टि की गई है अर्थात 'अहं ब्रह्मास्मि' के कारण जीव, जो अपने लिए 'मैं' का प्रयोग करता है, अपने जीवत्व को विचार के द्वारा दूर रख ब्रह्म के रूप में शेष रहता है। उसके पश्चात यह अनुभव करना कि मैं ब्रह्म हूँ, बाधसामानाधिकरण्य है। जीवत्व का पूर्ण नाश किये बिना जीव में विद्यमान ब्रह्म का अनुभव नहीं हो सकता, अतः जीव यह नहीं जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ। जैसे जब भिक्षु अपने शरीर के अस्तित्व को भूल नृप के शरीर की भावना में मग्न हो जाता, तब वह यह अनुभव करता है कि मैं नृप हूँ, वैसे ही ईश्वर को जानने के लिये मनुष्य अपने देह को, जो मनुष्यत्व की उपाधि युक्त है, पीछे छोड़कर तथा देव शरीर में प्रवेश कर उसका अनुभव करता, तभी वह यह जानता है कि मैं देव हूँ, मैं देवी हूँ इत्यादि।

भक्त जो ईश्वर में अटल आस्था रखता है, वह अपनी आन्तरिक भक्ति उपासना की महिमा के द्वारा अपने मनुष्यत्व से छुटकारा पाकर ईश्वर सायुज्य को प्राप्त कर यह अनुभव करता है कि मैं ईश्वर हूँ। दरिद्र राज्याधिपत्य को, मनुष्य देवत्व को तथा भक्त ईश्वरत्व को पहचान कर उसका अनुभव करता, तो उसे मुख्य सामानाधिकरण्य नहीं कहना चाहिए। दरिद्र, मनुष्य तथा उपासक जब उपाधियों को समझ लेते हैं, तब सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है। श्रुतियों ने यह उपदेश किया है कि जीव जो यह जानने की इच्छा रखता है अथवा यह कहता है कि मैं ब्रह्म हूँ, उसे चाहिए कि वह विचार के द्वारा जीवों की उपाधियों को दूर कर ब्रह्म से सामानाधिकरण्य का अनुभव करे।

विचार के द्वारा जीवत्व को दूर मत करो, क्योंकि जीव ब्रह्म को जानने में समर्थ है। जीव ब्रह्म ही है। सुषुप्तावस्था हो अथवा निर्विकल्पावस्था में, जीव इस अवस्था में रह कर ही बार-बार यह अनुभव कैसे करता

है कि मैं ब्रह्म हूँ ? तेजस ही स्वप्नानन्तर विश्व है, जिसके कारण ही जीव स्वप्न के अनुभवों का स्मरण जागृतावस्था में ही करता है; जैसे हम कहते हैं कि स्वप्न में नाना देशों की यात्रा की; संसार में जो कुछ देखा, उसका अनुभव मैंने स्वप्न में किया; क्या मेरा स्वप्न भ्रान्त है, सत्य तो नहीं है न ? मैं किसी से भी प्रभावित हुए बिना गहरी नींद के सुख का अनुभव किया इत्यादि। जैसे स्वप्नावस्था में उन्मत्त व्यक्ति उन्माद को भूल सुख-सन्तोष का अनुभव करता है, रोगी रोग से अप्र-भावित हो चैन से सोता है तथा दरिद्र अपनी दारिद्रयता के क्लेषों को भूल स्वप्न में राजाधिपत्य के सुख-सन्तोष का अनुभव करता है, वैसे ही मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर देवानन्द का अनुभव करता है।

उपासक ईश्वर के सायुज्य की प्राप्ति कर ईश्वरानन्द का अनुभव करता है, जीव ब्रह्म में लीन हो ब्रह्म ही हो जाता है और घोषित करता है कि मैं ब्रह्म हूँ। अहंब्रह्मास्मि की अवस्था में समस्त संसार कहाँ लुप्त हो जाता है ? भ्रांति के कारण ही जीव, ईश्वर तथा जगत का मिथ्या ज्ञान होता है, जिसके परिणाम स्वरूप आवागमन के चक्र में फंस जीव विभ्रान्त है। स्वभावतः त्रिकाल का स्वामित्व संसार को नहीं है। सजातीय, विजातीय तथा स्वगत के भेदों से शून्य सच्चिदानन्द स्वरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' का पूर्ण अनुभव करना ही ज्ञान है। अतः जीव की उपाधियों के नाश से ही आत्मसाक्षात्कार सिद्ध होता है, न कि अन्य किसी प्रकार से। मन का लय न होने से अनुभव असम्भव हो जाएगा। यही पूर्ण नाश नहीं है। सामान्यतः मन के दो प्रकार के लये माने जाते हैं। वे हैं...रूपलय तथा अरूपलय।

१—वासनामय वृत्तियाँ ही मन के रूप हैं। इन सब वृत्तियों का लय होना ही रूपलय है।

२—सकलवृत्तियाँ लयित हो जब निद्रित होती हैं, तब जगत के समस्त दृश्य के निर्विकल्प पर सच्चिदानन्द का अनुभव मात्र होने लगता है। जिसे समाधि की अवस्था कही जाती है। जो अरूप होता है। इस अरूपावस्था को ही अरूपलय कहा जाता है।

इस अरूपलय में ब्रह्मानन्द का अनुभव नहीं होता। यह अरूपलय विदेह-मुक्ति में होता है, न कि जीवन-मुक्ति में अब रूपलय मात्र सम्भव है। इस प्रकार मन के रूप मात्र में लयित कर तथा अरूप में लयित न कर ब्रह्मानन्द के मार्ग में स्थिर कर देना चाहिए, जिससे ब्रह्म में स्थित मन 'अहं ब्रह्मास्मि' को समझने लगता है तथा उससे प्राप्त होने वाले आनन्द का अनुभव करने लगता है।

इस प्रकार जीव की उपाधियों के अन्तर्गत विद्यमान मनोरूपों का लय कर सच्चिदानन्द मनोरूपों का विचार करना चाहिए तथा यह अनुभव करना चाहिए कि मैं ब्रह्म हूँ। यही साक्षात्कार का सिद्धान्त है। सामान्यत: ज्ञानाभ्यास के पूर्व ब्रह्म का सदासर्वदा स्मरण करते हुए उसमें तथा अपने में निशंक हो, अज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न भ्रांति को तथा वह, मैं वाली भेद बुद्धि को ज्ञान के द्वारा दूर कर देना चाहिए तदनन्तर जिसके बिना और कुछ है ही नहीं, उस सच्चिदानन्द में निशंक हो याने किसी भी प्रकार का सन्देह न रख निरन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' का ही अनुभव करते रहना चाहिए, जिससे आत्मसाक्षात्कार सम्भव होता है। आचार्यप्रवर भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। ऐसे क्यों करते हैं ? क्योंकि यही सत्य है।



बारहवां संबोधन

साधनाचतुष्टय के अधिकारी कौन हैं ?

जो साधक आत्मविचार में दत्तचित्त है, वे ही साधनाचतुष्टय के पूर्ण अधिकारी हो सकते हैं । समस्त वेद-शास्त्रों में पाण्डित्य प्राप्त विद्वान यदि कर्म, जप, उपासना, दान, व्रत या तीर्थ यात्रा आदि करे, तो भी साधनाचतुष्टय के अधिकारी नहीं हो पाते। श्रुतियों में बताया गया है कि 'शान्तों दान्तों परतस्तितीक्षुः' अतः वैराग्य, अपरति आदि साधनाओं में रत रहने वाले ही इसके अधिकारी होते हैं, न केवल जाति, वर्ण, आश्रम या आचार-प्रथा का पालन करने वाले । वेद-शास्त्रों का कथन है कि समस्त शास्त्रज्ञ, विद्वान, मूर्ख, बालक, युवक, बूढ़ा, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य, शूद्र, पंचमवर्णो, स्त्री इत्यादि सब के सब साधनाचतुष्टय का सम्यक अनुष्ठान कर आत्मविचार के अधिकारी बन सकते है ।

केवल शास्त्रों का अध्ययन कर लेने से ही कोई इसका अधिकारी नहीं हो सकता। शास्त्रविहीन साधनाचतुष्टय का सम्यक अभ्यास करने वाले ही अधिकारी हो सकते हैं । अतः यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि शास्त्रों के अध्ययन के बिना कोई साधनाचतुष्टय को कैसे पा सकता है ? उसका मेरा यह उत्तर है कि केवल शास्त्रों के अध्ययन करने वालों को ही वह कैसे प्राप्त हो सकता है ? अतः शास्त्रज्ञ को चाहिए कि वह अपने कर्मों को ईश्वरार्पण करे तथा चित्तशुद्धि कर वैराग्य आदि साधनाओं की शनैः शनैः वृद्धि करे। अब यह प्रश्न

उठाया जा सकता है कि शास्त्रार्थ का ज्ञान जिसको नहीं है क्या वह सिद्ध कर सकता है ? क्यों नहीं ? इस जन्म में भले ही शास्त्रों का अध्ययन न किया हो, पर पूर्व जन्म के संस्कारवश तथा पूर्व जन्म की साधनाओं के फलस्वरूप, सत्कर्मों के परिपालन से इस जन्म में साधनचतुष्टय को क्यों न प्राप्त कर सकता ? बहुत ही सुगमतय: प्राप्त कर उसमें सिद्ध भी हो सकता है। अब प्रश्न उठता है कि यदि पूर्व जन्म के अभ्यास के संस्कारवश इस जन्म में साधनाचतुष्टय रूपी महान सम्पत्ति उपलब्ध होती है, तो शास्त्रों के अध्ययन करने वालों को क्यों नहीं ?

कुछ लोग शास्त्रार्थ में पाण्डित्य प्राप्त कर लेने पर भी अपने पूर्व जन्म के कर्म प्रतिबन्ध के कारण साधनाचतुष्टय प्राप्त नहीं कर पाते। पूर्वजन्म में जो लोग अमित सत्कर्म कर चुके हैं, उन भाग्यवन्तों का साधनाचतुष्टय का अधिकार मात्र प्राप्त होता है। शास्त्रों का अध्ययन मात्र करने वाला जिसने अपने पूर्व जन्म में सत्कर्म नहीं किये हैं, अब अपने पूर्व कर्म के संस्कारवश साधनाचतुष्टय रूपी महासम्पत्ति को प्राप्त नहीं कर पाता। अतः शास्त्रों के अध्ययन मात्र करने वाला तथा अध्ययन न करने वाला दोनों ही आतम-विचार के अधिकारी नहीं हो सकते। अपने-अपने कर्मों के आधार पर दोनों समान ही हैं।

शास्त्रों का अध्ययन भले ही किया हो, परन्तु साधनाओं का अनुष्ठान न किया हो, तो वह आत्मविचार का अधिकारी कैसे बन सकेगा ? यदि शास्त्रों का अध्ययन किया हो तथा अपने पूर्व जन्म की साधना का संस्कार प्राप्त हो, तो शास्त्रार्थ में जो कुछ भी समझ पाता है, उसे ही अपने अभ्यास में जाकर उसे फिर करने का अवसर मिलता है। शास्त्रों का अध्ययन जिसने नहीं किया तथा शास्त्रार्थ को भी जो समझ नहीं पाता, वह अपने पूर्व जन्म में संप्राप्त साधना के

संस्कारवश यदि शास्त्रों के अध्ययन की आकांक्षा करता मुक्ति की अभि-लाषा से गुरु के पास जाता है, तो शास्त्रार्थ समझ कर श्रद्धापूर्वक साधनाओं का अभ्यास कर सकता है जिसमें आत्मसाक्षात्कार सुलभ हो जाएगा। उसमें कोई सन्देह नहीं है कि संसार में जो श्रद्धालु हैं, वही कर्म आदि अनुष्ठान को सिद्ध कर पाता हैं; है न ? श्रद्धा रहित व्यक्ति कैसे प्राप्त कर सकता है ? कर्म तथा शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर भी, यदि उनमें श्रद्धा का अभाव हो, तो कर्मानुष्ठान की सिद्धि नहीं होती। जिस में श्रद्धा नहीं है, उसे शास्त्रज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं है ? यदि कोई साधक शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता क्यों न हो अथवा शास्त्रार्थ को जानने का प्रयत्न करने वाला ही क्यों न हो, बिना श्रद्धा के कर्मानुष्ठान की सिद्धि असम्भव है। श्रद्धावन्तों को ही वेदों से कथित समस्त अधिकार उपलब्ध होते हैं। साधनारत आत्मविचारी को साधना के साथ ही साथ शास्त्रों का पाण्डित्य भी प्राप्त हो जाता है। शास्त्रज्ञ को विचार का अधिकार अधिक है, परन्तु शास्त्र विचार के साधन नहीं हैं।

यह बताया जाता है कि वैराग्य आदि गुण आत्मा को समझने के साधन मात्र हैं; अतः शास्त्रज्ञ तथा साधक इन दोनों को आत्म विचार याने साधनाचतुष्टय का समान अधिकार है केवल साधना के द्वारा ही आत्म विचार कर आत्मतत्व को समझा नहीं जा सकता। इसलिए शास्त्रों का अध्ययन क्या आवश्यक है ? उसकी कोई चिन्ता नहीं है। भ्रान्ति के कारण अपने आत्मतत्व को न समझने वाला अज्ञानी आत्मस्वरूप का प्रतिपादन शास्त्रों के विचारों के आधार पर करता है, परन्तु आत्मस्वरूप को परोक्ष ज्ञान के द्वारा कैसे जाना जा सकता है। शास्त्रों से जो निष्कर्ष निकाला जाता है, वह केवल परोक्षानुभूति ही है; आत्मतत्व को समझने के लिये प्रत्यक्षानुभूति परमावश्यक है, जो साधना के द्वारा सम्भव होती है, प्रत्यक्षानुभूति ही ज्ञान है। अतः

शास्त्रों के द्वारा जो कुछ भी जाना जाता है, वह परोक्षज्ञान ही है, न कि अपरोक्ष ज्ञान ? अर्थात विष्टयादि मूर्त्तियाँ तथा स्वर्ग आदि का प्रतिपादन शास्त्रों के द्वारा परोक्ष रूप में जाना जाता है, न कि प्रत्यक्ष रूप में। इस प्रकार परोक्षरूप में जाने बिना प्रत्यक्ष रूप में उसे जानना असाध्य है। अनुभव के द्वारा जो जाना जाता है, वही अपरोक्ष ज्ञान है। अतः आत्मतत्व को अनुभव के द्वारा ही सप्रत्यक्ष जानना चाहिए। यही विज्ञान है।

क्या शास्त्र विचार के द्वारा ही आत्मानुभूति होती है ? नहीं, वैसी बात नहीं है। देह इन्द्रिय आदि में जो 'मैं' है, वह कौन है ? इसे जानने की जिज्ञासा से एकाग्रचित्त हो अन्तर्मुखी बुद्धि के द्वारा पंचकोशों के भीतर स्थित आत्मा का विचार निरन्तर करते रहना चाहिए। इसे ही आत्मविचार कहा जाता है। देह के बाहर के भौतिक पदार्थों का विचार करना विचार नहीं है; बाहरी जिह्वा के द्वारा वेद-शास्त्रों का पठन करना तथा विद्वत्ता पूर्वक शास्त्रार्थों व शब्दार्थों को समझना भी विचार नहीं है। बुद्धि के द्वारा आत्मस्वरूप का अन्वेषण कर उसका दर्शन करना ही विचार है; यही ज्ञान है।

क्या शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा आत्मा का अर्थ समझ लेने पर आत्मानुभूति नहीं हो सकती ? नहीं, नहीं हो सकती। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूपी तथा देह त्रय विलक्षण अर्थात स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर रहित है; अवस्था त्रय साक्षी अर्थात् जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। अतः जिन शब्दों को बहिरंग रूप में जिह्वा के द्वारा सदा पढ़ लिया जाता है, उनका अर्थ बोध, क्या आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करा सकता है ? तब आत्मा को कैसे देखा जा सकता है ? जिसके द्वारा देखा जाता है उस पंचकोश स्वरूपी का बुद्धि के द्वारा विश्लेषण तथा उसका यह अनुभव कर कि यह आत्मा

नहीं, यह आत्मा नहीं—नेति नेति के द्वारा कोशों को भेदते हुए उनके परे जो साक्षीस्वरूप है उनका सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा विचार कर देखें, तो स्पष्ट दीख पड़ेगा; न कि कहीं बाहर वह ब्रह्म सप्रत्यक्ष दीख पड़ेगा ।

घर में खोई किसी वस्तु की खोज यदि घर में ही करें, तो वह वस्तु घर में ही मिल जायगी । लेकिन कहीं जंगल में जाकर खोज करें, तो क्या वह घर की खोई वस्तु जंगल में मिल सकती है ? ठीक इसी प्रकार पंचकोशों के आवरणों के अन्दर लुकी आत्मा को (ब्रह्म को) पंचकोश वाले शरीर में ही खोजना चाहिए, अतः शास्त्रों में खोज कर उसे समझ लेना असाध्य है ।

शास्त्र रूपी जंगल में जो भटकते हैं, वे शास्त्रों के द्वारा पंचकोशों के लक्षणों को समझें तथा बुद्धि के द्वारा उसका अन्वेषण करें । इसके उपरान्त आत्मविचार में मग्न हो आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर सकते हैं । वास्तव में ऐसा साधक ही शास्त्रज्ञ है । परन्तु जिस व्यक्ति ने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया है तथा पंचकोश व आत्मा के लक्षण नहीं समझ पाये, वह कैसे अपनी बुद्धि के द्वारा आत्मस्वरूप को जान सकता है ? जो साधक शास्त्रों को समझ पाता नहीं, उसको चाहिए कि वह गुरु अथवा महान पुरुषों से पूछ कर जान ले ।

परन्तु यहाँ इस विषय पर ध्यान देना चाहिए कि सब शास्त्रों के अनुभव प्राप्त महात्माओं ने भी गुरु के बिना आत्मतत्व को नहीं समझ पाया । पहले पहल शास्त्रविदों ने गुरु के द्वारा ही तत्व ज्ञान की प्राप्ति की थी । सर्वज्ञ नारद, सनत्कुमार, जनक इत्यादि ने किसी न किसी एक सद्गुरु के आश्रम में ही ज्ञान प्राप्त किया था । ऐसा कोई ज्ञानी नहीं है, जिसने गुरु के बिना ही ज्ञान प्राप्त किया हो ।

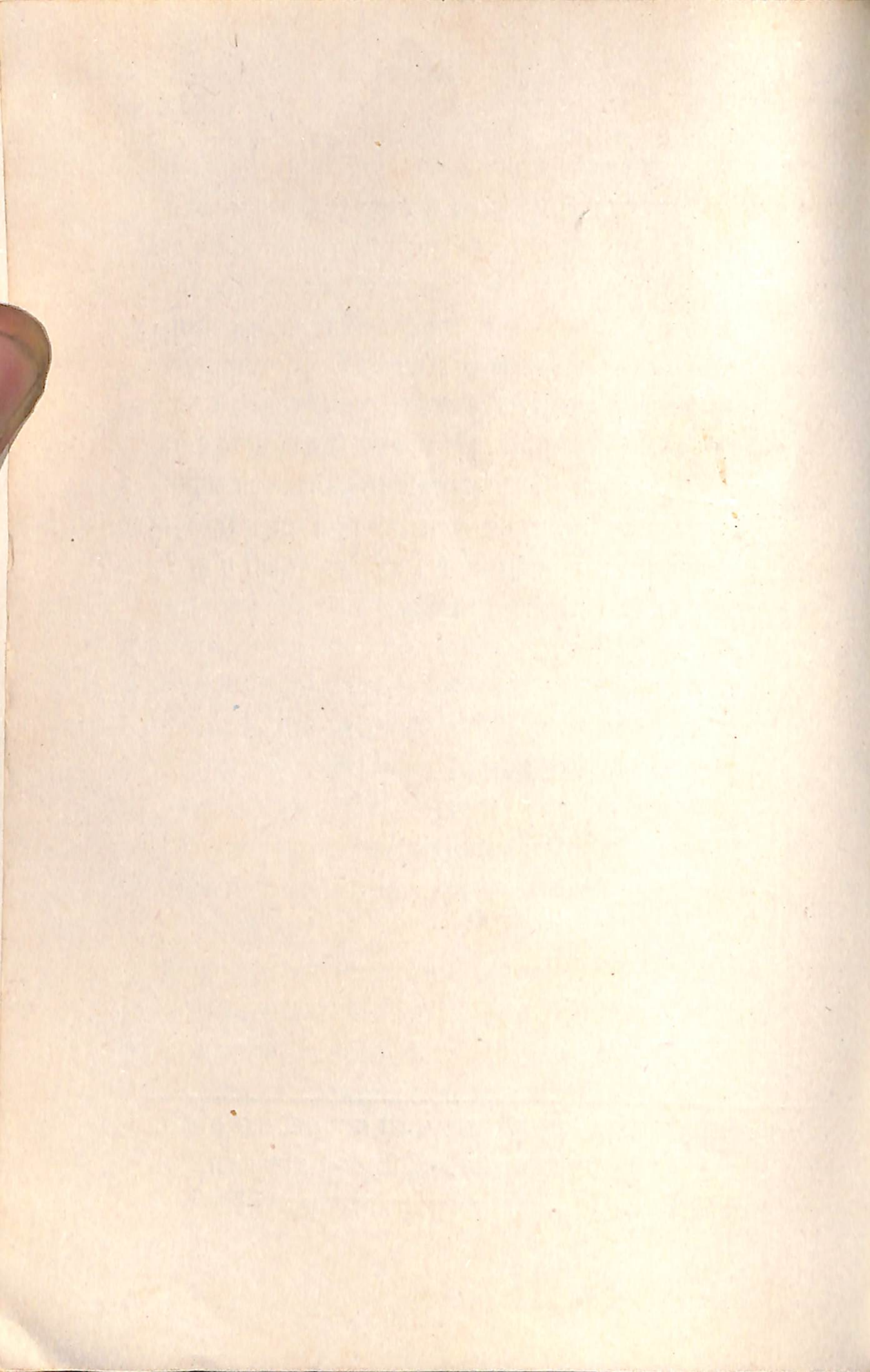
साधकों के अपने-अपने जन्मान्तर की सुकृतियों एवं संस्कारों के अनुसार साक्षात परमात्मा ही गुरु के रूप में अथवा किसी रूप में प्रत्यक्ष हो, ज्ञानोपदेश देता है। कहीं ऐसा भी होता है कि परमात्मा के अनुग्रह के प्रभाव से किसी गुरू भी के बिना जिज्ञासु स्वयंमेव सब कुछ जान लेने में समर्थ होता है। याज्ञवलक्य की धर्मपत्नी मैत्रेयी, महामूर्ख लीला, चूड़ाला आदि अनेक स्त्रियों ने केवल गुरुपदेश से ही आत्मज्ञान प्राप्त किया है। इन स्त्रियों ने शास्त्रों का अध्ययन ही नहीं किया था। अतः निष्ठावन्त शास्त्रविदों को आत्मविचार के अधिकार में कोई सन्देह नहीं, परन्तु अन्य सबके अभाव में केवल आदिमूल परमेश्वर का अनुग्रह (कृपा) मात्र साधक पर हो, तो वह परम भाग्यवन्त साधक किसी न किसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। वह कैसा भी क्यों न हो? यही सच्चे ज्ञान का सार है।

—समाप्ति—

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



प्रकाशक : श्री सत्य साई न्यास की ओर से श्री सत्य साई सेवा समिति, गुलाब भवन, ६ बहादुरशाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-१ द्वारा प्रकाशित।
मुद्रक : लखेरवाल प्रेस, १८, बीडन पुरा, करोल बाग, नई दिल्ली-५.



2/-